रामराज्य की ओर

रचयिता—

श्री १०८ स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

प्रकाशक—

मुमुक्षु आश्रम, शाहजहांपुर

प्रथमबार ३०००

सम्वत् २०१०

मूल्य ॥-)

विषय-सूची

प्रस्तावना

अखिल ब्रह्माण्डनायक जगन्नियन्ता की अनन्त सृष्टि में मानव-योनि को हमारे शास्त्रों तथा संत महापुरुषों ने सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। इस देवदुर्लभ मनुष्य शरीर के द्वारा ही जीव अपने परम-लक्ष्य तक पहुँच सकता है, चौरासीलक्ष योनियों में भटकते हुए जीव को यह नरदेह, जीवन-मरण के चक्र से मुक्त होने के निमित्त अर्थात् सुख-दुख से छूट जाने के लिये ही मिलती है। यदि मनुष्य शरीर पाकर भी यह जीव दैवी गुणों को धारण न कर, आसुरी अवगुणों को अपनाता है तो उसे पुनः उसी चक्र में फँस जाना पड़ता है। भगवान् श्री कृष्ण ने गीता के सोलहवें अध्याय में इस बात को स्पष्ट कर दिया है—

"दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता"

अर्थात् दैवी सम्पति के ग्रहण करने से जीव भव-बन्धन सेमुक्ति पा लेता है जिसे हम परमानन्द के नाम से पुकारते हैं। इसके विपरीत आसुरी सम्पत्ति का आश्रय लेने से जीव आवागमन के चक्र अर्थात् दुःख के गम्भीर गर्त में पुनः पड़ जाता है। वास्तव में मानव जीवन की सफलता का रहस्य सद्गुणों के धारण करने में सन्निहित है। अवगुणी व्यक्ति न तो स्वयं ही सुखी हो सकता है और न दूसरों को सुखी कर सकता है। अपने पूर्वज तत्ववेत्ताओं ने एकान्त साधन के द्वारा मानव के हित के लिये इस मर्म का पता लगाया था कि यदि मनुष्य अपने उत्कर्ष का इच्छुक है तो उसे शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान—"अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह" आदि यम-नियमों का पालन करना ही होगा, इनके विपरीत आचरण से

कदापि सफलता नहीं मिल सकती। प्राचीन काल में भारत के सम्पन्न और सुखी होने का रहस्य यही था कि सभी व्यक्ति इन दैवीगुणों को अपनाते थे, यही कारण था कि अपना प्यारा भारत जगद्गुरु के पद पर आसीन थां। इतिहासकारों का मत है कि उस काल में विदेशों से छात्र यहाँ आकर अध्यात्मवाद तथा ज्ञान-गरिमा का सन्देश अपने देशों में ले जाते थे। इस प्रकार भारत के सुख-शान्ति का संदेश सर्वत्र फैल जाता था।

सर्वत्र सुख और शान्ति का सन्देश देने वाले जगद्गुरु भारत की वर्त्तमान् पतनोन्मुखी दीन-हीन दशा का मूल कारण यही है कि उसने दैवी गुणों का परित्याग कर विदेशियों के अवगुणों अर्थात् आसुरी सम्पत्ति को अपनाया और इस प्रकार गुरु से गोरु अर्थात् पशु बन बैठा। पशु ही नहीं वरन् असुर बन गया। लगभग एक सहस्र वर्षों से भारत वर्ष दासता की शृङ्खला में जकड़ा हुआ अपने अतीत गौरव को पुनः प्राप्त करने की कल्पना में आनन्दमग्न था किन्तु परिणाम उन कल्पनाओं के बिल्कुल विपरीत निकला। इसका कारण यही जान पड़ता है कि हमारा प्यारा भारत लगभग ७०० वर्षों के मुस्लिम शासन काल में तत्कालीन शिक्षा के अनुसार प्रभावित रहा। इसके पश्चात् अंग्रेजों के शासन काल में तो पूर्ण रूप से अपने अतीत गौरव को भूल बैठा क्योंकि भाषा का प्रभाव मनुष्य के मस्तिष्क पर उसी के अनुरूप पड़ता है। जैसी भाषा होती है वैसी वेषभूषा बन जाती है, तदनुसार भावनाएँ बनती हैं। मुस्लिम शासन काल में कतिपय धर्मान्ध शासकों ने हमारे संस्कृत साहित्य को नष्ट किया और बलात् फारसी उर्दू का प्रचार किया। उस काल में ऊपर से हिन्दू रहते हुए भी अधिकांश जनता भीतर से मुसलमान बन गई। इसी प्रकार अंग्रेजी शासन काल में तो अंग्रेजी भाषा के प्रभाव से हम कहने मात्र को हिन्दू बने रहे किन्तु वेष-भूषा तथा आचरण से पूर्णरूपेण अंग्रेज बन गए,

अर्थात् अंग्रेजी सभ्यता ने हमें विलासप्रिय र देहाभिमानी बना दिया। देहाभिमान को हमारे पूर्वजों ने मानव जीवन का अभिशाप माना है।

देह को 'मैं' मानना, सबसे बड़ा यह पाप है।
सब पाप इसके पूत हैं, सब पाप का यह 'बाप' है॥

पश्चात्य शिक्षा ने जैसा हमारा अधोपतन किया उसे सभी जानते हैं। भौतिकवाद की चकाचौंध ने अध्यात्मवाद को इतना पीछे ढकेल दिया कि सुधार असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य बन गया है। दृष्टि कोण इतने संकुचित बन गए हैं कि अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए यदि अनेक व्यक्तियों के स्वार्थ की हत्या करनी पड़े तो भी संकोच नहीं होता। कुछ महान व्यक्ति भी हैं जो अपनी सद्भावना से देश समाज विश्व आदि सभी की सेवा करना चाहते हैं परन्तु उनकी सद्भावना को कोई नही सुनता, जनता में प्राकृतिक गुण होता है कि वह माननीय श्रेष्ठ पुरुषों के ही अनुसार चला करती है, अतः प्रथम बड़े पुरुषों को ही अपना सुधार करना चाहिये क्योंकि उन्हीं के अनुसार जनता बनेगी। गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने स्वयं श्री मुख से कहा है कि:—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

अर्थात् जिस प्रकार श्रेष्ठ-पुरुष आचरण करते हैं उसी प्रकार इतर व्यक्ति भी चलते हैं। वह लोग जो प्रमाण करते हैं उसी के अनुसार अन्य जन भी वर्तते हैं। राष्ट्र पिता विश्ववन्द्य स्वर्गीय महात्मा गांधी जी ने इसी सिद्धान्त को सामने रख कर शासक वर्ग को आदेश दिया था; जो स्वतंत्र भारत के सर्वथा अनुकूल था। उन्होंने कहा था यदि अपने प्यारे भारत को पुनः जगद्गुरु के पद पर

आसीन करना है तो त्याग और बलिदान का आश्रय लेना होगा, उन्होंने कहा था कि शासक वर्ग को राष्ट्र के एक सामान्य सेवक की भाँति त्याग एवं तपस्यामय जीवन व्यतीत करना चाहिये, तभी रामराज्य का स्वप्न सत्य हो सकता है, किन्तु भारत के दुर्भाग्य से ऐसा न हो सका। जिसके परिणाम-स्वरूप दिन दूनी रात चौगुनी अशान्ति बढ़ती ही जा रही है। इस अशान्ति से त्राण पाने का जनता को कोई भी निश्चित मार्ग दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। अन्धकारमय भविष्य की कल्पना से मानव-समाज संत्रस्त है "जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई" के सिद्धान्तानुसार जैसे-जैसे वैभव प्राप्त हो गया उसी अनुपात से अधिकार-लिप्सा तथा पद-लोलुपता बढ़ती जा रही है। उचित अथवा अनुचित रूप से जैसे बने अपना स्वार्थ साधन होना ही चाहिये, ऐसी विनाशकारी भावना सर्वत्र देखने को मिल रही है। कर्त्तव्यपरायणता की ओर किसी का ध्यान किञ्चिन्मात्र भी नहीं जाता। दासत्व के बन्धन से मुक्त कराने वाले देश के जिन सपूतों ने अपने जीवन बलिदान कर दिये उनकी दिवंगत आत्माओं को हमारे इन आचरणों से क्यों कभी शान्ति-लाभ हो सकती है? कभी नहीं। देशकालानुसार वर्त्तमान परिस्थिति में हमारा क्या कर्तव्य है इसके निमित्त रामराज्य के आदर्शवाद को सामने रखकर तदनुसार यथासम्भव प्रयत्न होने से सफलता अवश्य प्राप्त हो सकती है। प्रस्तुत पुस्तक इसी उद्देश्य से जनता जनार्दन की सेवा-भावना से निर्मित हुई है। यदि इसके द्वारा कुछ भी लाभ हुआ तो यह परिश्रम सफल हो जावेगा।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भाग्भवेत्॥
ॐ शान्तिः! ॐ शान्तिः!! ॐ शान्तिः!!!

रामराज्य की ओर

"उन्नति का मूल-कारण अध्यात्म शिक्षा"

रामराज्य का जैसा वर्णन श्रीरामचरितमानस में मिलता है इसके सम्बन्ध में विचार करने से विदित होगा कि उस काल में हर बात को आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखा जाता था। तत्कालीन नागरिक सांसारिक सुख एवं भौतिकवाद को तृणवत् त्याग करने में वास्तविक शान्ति की अनुभूति करते थे। इस युग पाश्चात्य सभ्यता ने अध्यात्म शिक्षा को इस प्रकार आच्छादित कर दिया कि त्याग की भावना सर्वथा लोप हो गई। अब तो यदि हमारा एक पैसे का लाभ होता हो और दूसरे को उससे कई गुनी हानि होती हो तो भी अपने लाभ के आगे उसकी हानि करने में हमें तनिक संकोच नहीं होता। नैतिक-पतन की ऐसी चरमसीमा के मूल कारण में अध्यात्मवाद के प्रति नितान्त उदासीनता ही कही जा सकती है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्री रामचन्द्र जी ने जब राज्य-भार सँभाला तब सबसे पहले अपनी समस्त प्रजा को बुलाया तथा विनय पूर्वक सबको समझाया कि यह मानव शरीर केवल भोग-प्राप्ति के निमित्त नहीं मिला है वरन् पारलौकिक उन्नति के लिये मिला है। पूज्यपाद श्री गोस्वामी जी ने लिखा है—

एक बार रघुनाथ बुलाए। गुरु द्विज पुरवासी सब आए॥
बैठे गुरु मुनि अरु द्विज सज्जन। बोले बचन भगत भव भंजन॥
सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहहुँ न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहिं सुहाई॥
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुशासन मानै जोई॥
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ बरजो मोहिं भय बिसराई॥
बड़े भाग्य मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सद्‌-ग्रन्थन गावा॥
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सुधारा॥

सो परत्र दुख पावई, सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहिं कर्महि ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाइ॥

यहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं॥
ताहिं कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा गहहि परस मनि खोई॥
आकर चार लाख चौरासी। योनि भ्रमत यह जिव अविनाशी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म स्वभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुणा नर देहीं। देत ईश बिनु हेतु सनेही॥
नर तनु भववारिधि कहुँ बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करणधार सद्‌गुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥

जो न तरइ भव सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति, आतमहन गति जाइ॥

श्री रामचरित मानस में वर्णित उपरोक्त प्रसंग पर विचार करने से आप इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे श्रीराज्यभार सँभालने के उपरान्त सर्व प्रथम मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान्‌ श्रीराम ने प्रजा के हृदय को परिवर्तन

करने का उपदेश दिया। वास्तव में हृदय का परिवर्तन आध्यात्मिक शिक्षा पर निर्भर है। आध्यात्मिक शिक्षा के अभाव में मनुष्य कदापि आत्माभिमानी नहीं बन सकता। वह सदैव अपने को साढ़े तीन हाथ का शरीर ही समझता रहता है। उसका दृष्टिकोण अपने शरीर तथा शरीर सम्बन्धित कुटुम्बी जनों तक ही सीमित रहता है। स्वप्न में भी उसकी ऐसी भावना नहीं बनती कि देश, जाति अथवा परलोक सँभालने के लिये भी मेरा कुछ कर्त्तव्य है। भगवान् श्री राम ने जब अपनी प्रिय प्रजाको उसके वास्तविक कर्त्तव्य का दिग्दर्शन कराया तो भगवान् श्री राम के आचरण से प्रभावित समस्त जनता अपने कर्त्तव्य को समझकर तदनुसार आचरण में तत्पर हुई। प्रजा पर प्रभाव उसी राजा का पड़ सकता है जो स्वयं त्यागी और तपस्वी हो। यदि इस रहस्य को भलीभाँति समझकर हमारे कर्णधार भारत को दासता की शृङ्खला से मुक्त कराने के पश्चात् आध्यात्मिक तथा नैतिक-शिक्षा का सम्बन्ध वीतरागी महापुरुषोंके द्वारा आयोजित करते तो कदाचित् आज ऐसी सर्वत्र दीन-हीन दशा दृष्टिगोचर न होती। यह सिद्धान्त निर्विवाद है कि शिक्षा के द्वारा ही हृदय का परिवर्तन हो सकता है और उसी की शिक्षा का प्रभाव दूसरे के मस्तिष्क तथा हृदय पर पड़ सकता है जिसका स्वयं भी वैसा ही आचरण हो जैसा कि वह दूसरों को उपदेश देता है। यदि वह स्वयं करता कुछ है, और कहता कुछ और है तो उसकी बात का प्रभाव नहीं पड़ेगा। आज यही बात देखने में आरही है। कानून अथवा आर्डिनेन्स के द्वारा जनता का हृदय जीता नहीं जासकता। आज हमारी सरकार जो प्रतिबन्ध लगाती है उसको यदि स्पष्ट रूप से नहीं तो छिपे रूप से कपट का

नवीन मार्ग जनता भी खोज लेती है और इस प्रकार स्वार्थपरता का बोलबाला सभी ओर दीख पड़ रहा है।

रामराज्य की स्थापना में २८ जीवन मुक्तों ने भाग लिया था वे सभी आत्माभिमानी बनकर कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर हुए, उन्होंने अपने समस्त भौतिक सुखों को तिलाञ्जलि देकर प्रजा की कल्याण कामना से ही सभी कार्य किये थे, कुबेर को मात करने वाले ऐश्वर्य को ठुकराकर कर्त्तव्य-परायणता की भावना से ही जनता का कल्याण किया था। अपने अपने कर्त्तव्य का निश्चय करके सभी ने अधिकार की भावना का परित्याग कर दिया था। क्योंकि वे सब भलीभाँति जानते थे कि अधिकार-लोलुप व्यक्ति कदापि वास्तविक सेवा नहीं कर सकता है। भगवान् श्रीराम के वनगमन में भी जनता का कल्याण छिपा हुआ था। सभी भाइयों, माताओं तथा बहुओं ने भी अपने अपने कर्त्तव्य का निश्चय कर लिया। अपने अपने पार्ट को अदा करने के लिये उन्होंने एक दूसरे का अनुकरण नही किया। भगवान् राम ने स्वामी का पार्ट अदा किया, और लक्ष्मण जी ने सेवक का। तथा जगज्जननी जानकी जी अपने जीवननाथ के साथ वनगामिनी हुई इत्यादि।

भगवान् श्रीराम तथा भरत जी के त्याग का आदर्श

कविकुल चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्रीरामचरित मानस में श्रीराम तथा भरत के त्याग एवं आदर्श का जैसा वर्णन किया है यदि उसके अनुरूप हमारे देश में प्राणपण से प्रयत्न किया जाय तो यह सुखद स्वप्न सत्य हो सकता है जिसके स्मरणमात्र से ही मानसिक शान्ति का अनुभव होता है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम को जब वन का आदेश हुआ, उस समय उनके मुखपर किञ्चित् भी म्लानता न आई वे सहर्ष वन को चल दिये। यदि वे कर्त्तव्य-परायण न होकर अधिकार प्रिय होते तो उस आज्ञा को ठुकरा कर राज्य का उपभोग कर सकते थे। उनके त्याग की अमिट छाप जनता के हृदय पर सदैव के लिये अंकित हो गई। उनके वन जाने के पश्चात् जब भक्ताग्रगण्य प्रातः स्मरणीय श्री भरत जी अपने छोटे भाई श्री शत्रुघ्न जी के सहित ननिहाल से लौटे और जब यह दुखद समाचार सुना तो वे अवाक् रह गये। यदि वे भी अधिकारप्रिय होते तो अपनी माता कैकेयी की कुमन्त्रणा से सहमत होकर वे कुबेर को मात करने वाले राज्य-वैभव का उपभोग कर सकते थे। उन्हें तो सर्व-सम्मति भी प्राप्ति हो चुकी थी। किन्तु उन्होंने कर्त्तव्यपरायणता के सर्वोच्च आदर्श को सम्मुख रखकर सार्वभौम राज्य को वमन की भाँति त्याग दिया। भगवान् श्री राम के त्याग से प्रभावित भारत की जनता श्री भरत के इस अनुपम त्याग से आत्मविभोर हो उठी। इन दोनों वीत-

रागी-महापुरुषों के चरित्र का प्रभाव जनता के मस्तिष्क और हृदय पर ऐसा पड़ा कि समस्त जनता उसी रंग में रंगकर त्याग और तपस्या की भावना से ओतप्रोत हो गई।

"राम दरस हित लोग सब करत नेम उपवास।
तजि तजि भूषण भोग सुख जियत अवधि की आस॥"

श्री रामचरितमानस के इस एक दोहे से ही उस समय के वातावरण का दिग्दर्शन हो जाता है। गम्भीरता-पूर्वक विचार करने से स्पष्ट विदित होता है कि प्रजावत्सल भगवान् श्रीराम तथा श्री भरतलाल जी के अनुपम त्याग से ही सर्वत्र सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित हुआ था।

"रघुपति राघव राजा राम पतित पावन सीताराम।"

के अनन्य भक्त विश्ववन्द्य स्वर्गीय महात्मा गांधी जी ने कदाचित इसी भावना को लेकर शासकों को परामर्श दिया था कि वे झोंपड़ियों में रहकर स्वल्प वेतन पर निर्वाह करें। ऋषियों के समान जीवन व्यतीत करते हुए राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक से उसी प्रकार मिलें जैसे किसी बड़े से बड़े आदमी से मिलते हैं। उनकी यह कल्पना कितनी सुखद थी। यदि ऐसा हुआ होता और महात्मा गांधी के आदेशों का इस रूप में पालन होता तो भारतवर्ष में रामराज्य के पुनर्निर्माण का स्वप्न सत्य हो सकता था।

रामराज्य की स्थापना के कारण:—

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम अपने भाइयों सहित सर्वाङ्ग-पूर्ण शिक्षा की अवधि समाप्त कर जब गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए उस समय भारतवर्ष के दक्षिण में राक्षसों के अनाचारों से समस्त जनता संत्रस्त थी। चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था। अखिल ब्रह्माण्ड विजयिता रावण के गुप्तचर समस्त भारत में फैले हुये थे। एकान्त साधना में निरत वनवासी ऋषि-मुनियों के यज्ञादि प्रारम्भ करने में राक्षस विघ्न डालते थे। रावण का अत्याचार चरम सीमा तक पहुँच चुका था। जिसे अपने गुप्तचरों द्वारा सुनकर पुरुषोत्तम श्री राम को गम्भीर चिन्ता उत्पन्न हो गई। देश को संकट से मुक्त करने के लिये उन्होंने एक निश्चित योजना बनायी। उस योजना को चरितार्थ करने के लिये एक गुप्त मंत्रणा हुई। जिसमें भगवान् श्रीराम सहित अट्ठाइस व्यक्ति सम्मिलित हुए। यह योजना अत्यन्त गोपनीय रक्खी गई। जिसे उन्तीसवा व्यक्ति भी न जान सका। अपनी धर्म-पत्नियों सहित चारों भाई तीनों मातायें महर्षि वसिष्ठ चार मंत्री, चार उपमंत्री, महाराज दशरथ इत्यादि २८ व्यक्ति इस गुप्त मंत्रणा में सम्मिलित हुए। इस योजना में जो प्रस्ताव पास हुए, उसके अनुसार अपना अपना पार्ट भलीभाँति निभाने के लिये सब प्रतिज्ञाबद्ध हुए। यदि इस रहस्य का भेद जनता को मिल जाता तो कदाचित् इसप्रकार सफलता प्राप्त न होती। माता कैकेई के लिये जो पार्ट निश्चय हुआ वह हलाहल विष के समान भयंकर था। जिसके फलस्वरूप उन्हें सदैव

लांछनामय जीवन व्यतीत करना पड़ा। वैधव्य का दुःख भी भोगना पड़ा। भगवान् श्रीराम, जगज्जननी जानकी तथा आदर्श भ्राता लक्ष्मणजी इसी योजना के अनुसार वनवासी हुए। देश को महान संकट से मुक्त करने के लिये ही यह योजना कार्यान्वित की गई। १४ वर्षों की महान् विपत्तियों को जिस प्रकार उन प्रजावत्सल भगवान् श्री राम ने सहर्ष सहन किया उसे तो रामायण के पाठकगण भलीभाँति जानते ही हैं। भरत के अनुपम त्याग में भी राष्ट्र-हित की भावना अन्तर्हित थी, जिस राज्य को तृणवत् त्याग कर श्रीराम वनवासी हुए, जिसे अपने पुत्र के लिये मंथरा की कुमंत्रणा से माता कैकेई ने प्राप्त करना चाहा था, उसी राज्य को अनीति द्वारा प्राप्त होते देखकर भरत ने भी त्याग दिया, क्योंकि वह उन्हीं श्री राम के आदर्श भाई थे। अपनी माता द्वारा इस प्रकार यह भयानक संवाद सुनकर तथा अपनी आरती होती हुई देखकर श्रीभरतलालजी ने अपनी जननी की भर्त्सना की। उन्होंने कहा कि—

जौ पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारे मोही॥
पेड़ काटि तैं पालउ सींचा। मीन जियन हित वारि उलीचा॥
जब तै कुमति कुमत जिय ठयऊ। खण्ड २ होइ हृदय न गयऊ॥
वर माँगत मुख भइ नहिं पीरा। जरि न जीह मुख परेउ न कीरा॥
भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्हीं। मरनकाल विधि मति हर लीन्ही॥

श्री भरत जी यदि चाहते तो अनायास ही अपना राज्याभिषेक करा सकते थे। उन्हें कोई भी रोकने वाला न था। वरन् समस्त प्रजा और गुरु वशिष्ठ ने सर्व सम्मति से निश्चित करके कहा कि पिता जिसको राज्य देता है वही उस राज्य का अधिकारी होता है।

प्रजा सचिव सम्मत सबही का। जेहि पितु देहि सो पावहि टीका॥

यदि आज का युग होता तो वोटों द्वारा पास होने पर अपने अधिकार को कदाचित् भरत जी न छोड़ते, किन्तु वे तो रामराज्य के सच्चे संस्थापक थे। गुरु का संदेश पाते ही ननिहाल से लौटकर उन्होंने देखा कि सदैव आनन्द में रहने वाली प्रजा आज विषादमग्न क्यों है? सर्वत्र उदासी भी क्यों छायी हुई है? प्रजा-जन मुझे देखते ही एक ओर उदास-भाव से चल देते हैं। मुझे अभिवादन भी नहीं करते। उन्हीं विचारों में तल्लीन भरत जी राजमहल में पहुँचे और उन्हें जब अपनी माता द्वारा वस्तु स्थिति का पूर्ण रूपसे ज्ञान हुआ, तो वे स्तब्ध रह गये। पिता की मृत्यु का दुखद संवाद श्रीसीता तथा लक्ष्मण जी सहित श्री राम के वन-गमन के संवाद की अपेक्षा कम प्रतीत हुआ। उन्होंने गम्भीरता-पूर्वक विचार किया कि इस समय मेरी तनिक सी भी असावधानी प्रजा-विद्रोह का कारण बन सकती है इसी विचार से उन्होंने अपनी जननी कैकेई के प्रति कुछ कटु शब्दों का भी प्रयोग किया जैसा कि ऊपर बताया जाचुका है। अपने भ्राता श्री राम का अनुराग तो उनके हृदय में पूर्णरूपेण था ही। उस भावना अर्थात् प्रजाहित की भावना से ही उन्होंने कटु शब्दों का प्रयोग किया। यदि उस समय मौन रहते तो पहले से कानाफूसी करने वाले प्रजाजन स्पष्ट रूप से कह सकते थे कि भरत तथा कैकेई का यह षड्यन्त्र पहले से ही निश्चित था। माता को भला बुरा कहने के पश्चात् उन्होंने पुत्र वियोगिनी माता कौशिल्या के प्रति अपने हृदय के उद्गारों को प्रकट करते हुए कहा—

मातु तात कहँ देहि दिखाई। कहँ सिय राम लखन दोउ भाई॥

कैकइ कत जनमी जग माँझा । जो जनमी भइ काहे न बाँझा ॥
कुल कलंक जेहि जनमेउ मोहीं । अपजस भाजन प्रिय जन द्रोही ॥
को त्रिभुवन मोहिं सरिस अभागी । गति असि तोरि मातु जेहि लागी ॥
पितु सुरपुर वन रघुकुल केतू । मैं केवल सब अनरथ हेतू ॥
धिग मोहिं भयउँ वेनु वन आगी । दुसह दाह दुख दूषण भागी ॥

इसके आगे उन्होंने अपनी स्थिति को स्पष्ट करने के लिये अनेक प्रकार की शपथ भी खाई । वे जानते थे कि इस समय सबसे अधिक दुःख माता कौशल्या को ही है उन्हें । सान्त्वना देने से समस्त राज-परिवार शान्त हो जायगा । रामायण में वर्णित निम्नांकित उद्धरण से श्री भरतलाल के उज्ज्वल हृदय की अद्भुत झाँकी का दर्शन होता है ।

जे अघ मातु पिता सुत मारे । गाइगोठ महिसुर पुर जारे ॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हें । मीत महीपत माहुर दीन्हें ॥
जे पातक उपपातक अहहीं । कर्म बचन मनभव कवि कहहीं ॥
ते पातक मोहि होहु विधाता । जौं यहु होहि मोर मत माता ॥

जे परिहरि हरि हर चरन, भजहिं भूतगन घोर ।
तेहि कइ गति मोहि देहु विधि, जो जननी मत मोर ॥

इस प्रकार से भरत जी अपने निर्मल और निष्कपट हृदय का परिचय देते हुए कमल नैनों से अविरल अश्रु धारा बहाते हुए माता कौशल्या के चरणों में लिपट गये । माता ने उन्हें हृदय से लगा लिया और कहा—

बिधु विष चवइ स्रवइ हिम आगी। होहि बारिचर बारि बिरागी॥
भये ज्ञान बरु मिटै न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥
मत तुम्हार यहु जो जग कहही। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहही॥
अस कहि मातु भरत उर लाये। थनपय स्रवहि नयनजल छाये॥

माता कौशल्या तो भरत के उज्वल चरित्र से पहले ही परिचित थी। इस दृश्य को समस्त राज-परिवार तथा दास-दासियों ने अश्रु-पूरित नेत्रों से देखा। राजमहल के बाहर प्रजाजनों में भी यह चर्चा चली। इस प्रकार श्री भरत जी के प्रति जो दुर्भावनाएँ जनता में फैल चुकी थी वे प्रायः नष्ट हो गई। दूसरे दिन महर्षि वशिष्ठ के सभापतित्व में लोक-सभा का आयोजन हुआ, जिसमें सभी ने एक मत होकर यह सम्मति दी कि भरत को राजगद्दी सँभालनी चाहिये। किन्तु श्री राम के आदर्श-भक्त तथा रामराज्य संस्थापन के वास्तविक सूत्रधार महामहिम श्री भरत जी ने नम्रतापूर्वक उन आदेशों को अवहेलना की, क्योंकि वे अधिकारप्रिय नहीं, वरन् आदर्शकर्त्तव्य-परायण थे। उन्होंने त्यागमय चरित्र द्वारा जनता-जनार्दन की ऐसी सेवा की; जिसकी अमर गाथा पढ़कर संसार के प्राणी अपने हृदय की कालिमा सदैव धोते रहेंगे। श्री भरत जी ने लोकसभा में घोषणा की कि कल मैं भगवान् श्री राम को पुनः अयोध्या को लौटालाने के निमित्त बन को जाऊँगा। बात की बात में यह सूचना नगर में विद्युत की भाँति फैल गई। जो व्यक्ति श्री भरत जी के प्रति एक दिवस पूर्व दुर्भावना रखते थे उनको आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मन ही मन वे पश्चात्ताप करने लगे। समस्त राज-परिवार तथा अयोध्यावासी नर-नारी श्री भरत जी के साथ श्री राम को राज्याभिषेक के निमित्त अयोध्या लौटा लाने के लिये प्रस्तुत हो गये।

विशाल जन-समूह तथा चतुरंगिणी सेना के साथ भरत जी को आया देख निषादराज को भी भ्रम होगया क्योंकि मनुष्य के हृदय पर क्रिया का प्रभाव तत्क्षण पड़ता है। उसने विचार किया कि अपने षड्यन्त्र को पूर्ण रूप से चरितार्थ करने के लिये भरत जी वनको जा रहे हैं किन्तु जब भरत जी से मिलने पर वास्तविक परिस्थिति का उसे ज्ञान हुआ तो अपने आराध्य देव श्रीराम के समान ही वह भरत का भी भक्त बन गया। भरत जी ने उसको अपने अनुज के समान आलिंगन किया। इस प्रकार हर्षोत्पादक सम्मेलन को देखकर जनता विशेष रूप से प्रभावित हो गई। मार्ग में पड़ने वाले नगर और ग्रामों की जनता को अपने त्यागमय आदर्श से वशीभूत करते हुए जब श्री भरत जी चित्रकूट के समीप पहुँचे और लक्ष्मण जी ने सब समाचार सुना तब सभी की भाँति उन्हें भी ऐसा भ्रम हुआ कि भरत अपने राज्य को निष्कंटक बनाने के निमित्त सेना लेकर यहाँ आये हैं। अपनी इस भ्रम की बात उन्होंने अपने पूज्य अग्रज से कही। किन्तु श्री राम अन्तर्यामी थे इसलिये वे भरत के मन की बात भलीभाँति जानते थे। उन्होंने कहा कि भैया लक्ष्मण! ऐसा विचार अपने मन से निकाल दो, यह तो केवल अयोध्या का राज्य है भरत को यदि त्रैलोक्य का राज्य भी मिलता हो तो भी उनके मन में ऐसी दुर्भावना नहीं उत्पन्न हो सकती।

> भरतहिं होहि कि राज मद, विधि हरिहर पद पाय।
> कबहुँ कि काँजी सीकरहिं छीर सिंधु विनसाइ॥

इस प्रकार श्रीराम तथा लखनलाल में वार्तालाप हो ही रहा था कि एक ओर से विक्षिप्त की भाँति धूल धूसरित भरत जी विलाप करते

हुए श्रीराम के चरणों में साष्टाङ्ग गिर पड़े। लक्ष्मण जी ने अवाक् होकर देखा कि भरत जी के चरणों में बड़े बड़े छाले पड़े हैं। क्षण भर में वे समझ गये कि मैं कितने भ्रम में था। अपने पश्चात्ताप को मन ही मन दबाकर भरत जी को मानसिक प्रणाम् करते हुए कहा कि भाई भरत आपको प्रणाम कर रहे हैं। हर्ष विषाद तथा करुणा के इस अपूर्व सम्मेलन को देखकर देवता भी स्तब्ध रह गये। श्री रामचरित-मानस के भावुक पाठक इस अभूतपूर्व प्रसङ्ग से भलीभाँति परिचित हैं ही। जिसके पाठ मात्र से मन में करुणा का सागर उमड़ने लगता है।

आदर्श भ्रातृ प्रेम:—

भ्रातृ वत्सल श्रीराम अपने प्रिय अनुज के मन की गति से भली-भाँति परिचित थे। कई दिनों तक इस सम्बन्ध में सभायें होती रहीं कि अब क्या होना चाहिये? किन्तु अन्त में भगवान् राम ने कहा कि भरत जैसा कहें वैसा मैं सहर्ष करने को तैयार हूँ। भरत जी ने एकत्रित समस्त जनता के सम्मुख श्री राम को वनवासी बनने का कारण, स्वयं को बताया। वे अपनी तथा माता कैकेई की त्रुटियों का निर्देश करते रहे। अन्त में श्री राम ने कहा कि भइया भरत, तुम्हारे समान भ्राता आज तक इस संसार में न कोई हुआ है और न भविष्य में कभी होगा। अतः तुम अपने मन से इस प्रकार के संकल्प निर्मूल कर दो। तुम जैसा करने को कहोगे मैं वैसा करने को तैयार हूँ। भगवान् राम की इस बात का अनुमोदन महर्षि वशिष्ठ तथा महाराज जनक आदि गरुजनों ने भी किया। ऐसी परिस्थिति देखकर श्री भरत जी ने बिचार

किया कि यदि मैं अयोध्या को लौट चलने के लिये कहता हूँ तो मेरा यह कहना एक प्रकार से सेवक धर्म से विपरीत होगा। इसके अतिरिक्त पूर्व आयोजित योजना भी निष्फल हो जायगी। जनता जनार्दन की जिस सेवा के निमित्त भगवान् ने अवतार लिया है वह किस प्रकार से कार्य रूप में परिणित हो सकेगी। इसी प्रकार की कई अन्य समस्याओं पर गम्भीरता पूर्वक विचार करते हुए भक्ताग्रगण्य श्री भरतलाल ने कहा कि आप अन्तर्यामी हैं, सबके मन को जानने वाले हैं, आप जो कहेंगे अथवा जो कुछ करेंगे उसमें सभी की हित भावना अन्तर्हिती होगी। अतएव जैसा आप उचित समझें वैसा करें। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्री राम ने अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए उस महती सभा में कहा कि भइया भरत के सम्बन्ध में मैं क्या कहूँ ? जिसके भाग्य की सराहना गुरु वशिष्ठ करते हों वह तो सराहनीय ही है। आप सभी प्रिय-जनों के मन की भावना को भलीभाँति जानते हुए भी धर्म और कर्त्तव्य को प्रत्येक परिस्थिति में प्रमुख स्थान देना ही पड़ेगा। सूक्ष्म-दर्शी भगवान् राम व श्रीभरत जी ने विचार किया कि स्वर्गवासी पिता की आज्ञा का पालन होने में ही हम सभी का कल्याण है। अतएव मेरी इच्छा है कि चौदह वर्षों तक राज्य की देखभाल भैया भरत ही करें। मैं अवधि की समाप्ति के पश्चात् अवध पहुँच कर आप लोगों की आज्ञा का सहर्ष पालन करूँगा। अन्ततोगत्वा श्री भरत जी अपने पूज्य अग्रज की चरण-पादुका लेकर अयोध्या लौटे और ऋषियों को भी लजाने वाली तपस्या करते हुए राज्य भार सम्भालने लगे। प्रातः स्मरणीय श्री भरत के उस उज्ज्वल चरित्र का कविकुल चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में बड़ा मार्मिक वर्णन किया है।

श्री भरतलाल की तपस्या का जनता पर विद्युत प्रभावः—

नंदिगाँव करि परन कुटीरा। कीन्ह निवास धरम धुर धीरा॥
जटा जूट सिर मुनि पट धारी। महि खनि कुस साँथरी सँवारी॥
असन वसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन ऋषि धरम सप्रेमा॥
भूषन वसन भोग सुख भूरी। मन क्रम वचन तजे तिन तूरी॥
अवध राजु सुर राजु सिहाई। दसरथ धन सुनि धनद लजाहीं॥
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥
रमा विलास राम अनुरागी। तजत वमन जिमि नर बड़ भागी॥

'कुवेर को लज्जित कर देने वाली अपार धन सम्पत्ति तथा इन्द्र के ऐश्वर्य को भी तिरस्कृत कर देने वाला सार्वभौम राज्य वमन के समान परित्याग कर श्रीभरतजी नंदी ग्राम में पत्तों की कुटी बनाकर तपस्यामय जीवन व्यतीत करने लगे। साथ ही राज्यशासन की बागडोर भी सुचारु रूप से संचालित करते रहे। श्री शत्रुघ्न जी निश्चित समय पर नंदी ग्राम में आकर उनसे परामर्श कर लेते थे और उनकी आज्ञानुसार राज्य का संचालन करते थे।

इस प्रकार उपरोक्त प्रसङ्ग का गम्भीरता पूर्वक विचार करने से आप इस निष्कर्ष पर पहुँचेगें कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्री राम तथा भरत जी के समान प्रत्येक क्रिया के द्वारा जनता की अन्तर्भावना को ठेस नहीं पहुँचती और न जनता अपने कर्त्तव्य से पराङ्मुख हो सकती है। श्री राम तथा श्री भरत के अनुपम बलिदान तथा त्याग से तत्कालीन समस्त देशवासी प्रभावित हो गये और उनका सुधार करने के लिये किसी राजकीय प्रतिबन्ध अथवा दण्ड विधान की योजना कार्यान्वित करने की आवश्यकता ही नहीं हुई। दोनों महापुरुषों के इस आदर्श का

अनुकरण समस्त नागरिक स्वयं ही बिना उपदेश के करने लगे। श्रीरामचरित मानस में वर्णित इस एक दोहे से प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाता है।

राम दरस हित लोग सब, करत नेम उपवास।
तजि तजि भूषण भोग सब, जिअत अवधि की आस॥

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार उच्चतम आदर्श को अपने सामने प्रत्यक्ष रूप से देखकर जनता स्वयं ही प्रभावित हो गई। मनोविज्ञान के पंडित इस बात से भलीभाँति परिचित हैं कि मनुष्य के चरित्र पर क्रिया का प्रभाव तुरन्त पड़ जाता है और क्रिया का मूल रूप भावना में अन्तर्हित है। भावना के अनुरूप ही क्रिया होती है और मनुष्य की भावना उसके लक्ष्य के अनुसार होती है। यदि वास्तव में हमारा लक्ष्य जनता जनार्दन की सेवा है तो तदनुसार ही भावना बनेगी। और भावना के अनुसार ही क्रिया होगी। तब जनता जिस रूप में उसे देखेगी उस समय उस पर वैसा ही प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है।

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम तथा भक्ताग्रगण्य श्री भरतलाल जी के अनुपम त्याग में राजनैतिक दृष्टिकोण से एक रहस्य छिपा प्रतीत होता है। चित्रकूट में जिस समय भक्तवत्सल श्रीराम ने भरत जी से कहा कि तुम्हारी जैसी इच्छा हो मैं सहर्ष वही करने को तैयार हूँ। जिस समय श्री भरत जी अयोध्या से उद्विग्न और खिन्न होकर चित्रकूट को चले थे तब उनकी यही विचारधारा थी कि अपने पूज्य श्रीराम को अयोध्या के राजसिंहासन पर आसीन करने के निमित्त प्रार्थना करूँगा, और वे अन्तर्यामी मेरी प्रार्थना अवश्य स्वीकार करेंगे। किन्तु जब स्वयं श्री मुख से भगवान् श्री राम ने कहा कि अपनी हार्दिक इच्छा

प्रगट करो, तब सूक्ष्मदर्शी भरत ने विचार किया कि यदि मैं इस समय अयोध्या वापिस लौटाने की प्रार्थना करता हूँ तो मेरी यह प्रार्थना स्वीकार हो ही जावेगी, किन्तु मेरी प्रार्थना के अनुसार भगवान् श्रीराम अयोध्या के राज सिंहासन को सुशोभित करेंगे तो प्रजा की आन्तरिक भावनायें अवश्य ही दूषित हो जावेंगी। कालान्तर में दूषित भावनाओं के फलस्वरूप उनका अपयश होगा। अपने आराध्य देव के उस अपयश को मैं किस प्रकार सहन करूँगा। अतएव उनकी प्रतिज्ञाओं को भंग कराकर अयोध्या ले चलना प्रजा के लिए भी परिणाम में अहितकर होगा। इस निष्कर्ष पर पहुँचकर श्री भरतलाल ने अपने हृदयगत भावों को व्यक्त करते हुए करबद्ध प्रार्थना की कि आप अन्तर्यामी हैं। आपका प्रत्येक क्षण समस्त प्राणियों के हित में ही व्यतीत होता है, अतएव आप जो कुछ भी करेंगे अथवा हमको जैसा आदेश देंगे उसी के अनुसार चलने में हम सबकी भलाई है। श्रीभरतलाल के ऐसा कहने पर श्रीराम ने सोचा कि स्वर्गीय पिता भैया भरत को राज्य का वरदान दे ही गए हैं, मैं भी भरत से ऐसा कहूँ कि तुम पिता की आज्ञानुसार शासन भार संभालो। तो आन्तरिक इच्छा न होते भी भरत जी राजगद्दी पर बैठेंगे। किन्तु ऐसा होने से इस समय भरत के प्रति जैसी सर्वोच्च भावना प्रजा की बन चुकी है, कालान्तर में कदाचित् वैसी न रहेगी। और भरत का अपयश हो जायगा। संभावित जनका अपयश मृत्यु कष्ट से भी अधिक दुःखदायी है।

संभावित कहँ अपयश लाहू, मरण कोटि सम दारुण दाहू।

दोनों भ्राताओं की इस प्रकार की एक ही जैसी भावनाओं से स्पष्ट विदित हो जाता है कि उनकी प्रत्येक क्रिया के परिणाम में जनता जनार्दन की सेवा-भावना अन्तर्हित है। इसके अतिरिक्त सेवक अपने स्वामी को तथा स्वामी अपने सेवक को परस्पर जैसा महत्त्व देना चाहते हैं, बहुत सराहनीय है। यदि श्रीराम अयोध्या को लौट जाते तो यह निश्चय था कि प्रजा की भावना अवश्य दूषित हो जाती, अथवा श्री भरत जी सिंहासनारूढ़ होते तो उनका यह चिरस्मरणीय इतिहास कदाचित् इतने उज्वल रूप में हमारे सामने न आता। और कदाचित् रामराज्य की स्थापना में यह भावनाएँ बाधक बन जातीं।

"पतिव्रत धर्म के उज्ज्वल आदर्श"

पतिव्रत धर्म का जैसा उज्ज्वल आदर्श जगत गुरु भारतवर्ष के इतिहास में मिलता है वैसा अन्य किसी देश में देखने को नहीं मिलता। इस बात से स्पष्ट होता है कि बाल्यकाल से ही माता-पिता की आध्यात्मिकता तथा सद्गुणों की छाप बालिका के मानसपटल पर अंकित हो जाती थी तथा नित्यप्रति होने वाले सत्संग का प्रभाव भावी जीवन का निर्माण करता था। जनकतनया जगतजननी जानकी का पावन चरित्र अन्तःकरण को पवित्र बनाता है। उन्होंने जब यह सुना कि मेरे जीवननाथ अब यात्रा के लिये उद्यत हैं तो वह व्याकुल होकर "अनुचरी" शब्द को सार्थक करने की युक्ति विचारने लगीं। माता कौशिल्या के समीप पहुँचकर उन्होंने अपने विचार प्रकट किये। माता कौशिल्या तो प्रथम ही प्रिय पुत्र का वियोग जानकर दुःख से कातर हो रहीं थीं वे मन ही मन विचार कर रहीं थीं कि प्रियपुत्र की अनुपस्थिति

में वहू के समीप रहने से दुःख के दिन किसी न किसी प्रकार बितालिये जावेंगे। ऐसे विचारों में निमग्न शोक संतप्ता रामजननीने अपनी प्रियवहू के मुख से जब यह सुना कि वह भी अपने पति की अनुगामिनी बनने की इच्छुक है तब उनका संताप द्विगुणित हो गया उन्होंने बहू को समझाने के लिये अनेक प्रकार की चेष्टाएँ की किन्तु पतिव्रत धर्म के लिये पवित्र आदर्श उपस्थित करने वाली महामहिमामयी जनक नन्दिनी जानकी जी अपने निश्चय पर दृढ़ रही तब विवश होकर माता ने गमनोद्यत श्रीराम से कहा कि तुम्हारे वन गमन का समाचार पाकर राजर्षि जनक की पुत्री, मेरी प्राणप्रिय पुत्र-वधू जिसे मैं अपने नेत्रों की पुतली के समान प्यार करती हूँ, वाल्यकाल से ही जिसने ऐश्वर्य और वैभव की गोद में अपने दिन व्यतीत किये हैं, जिसने कभी मखमली गद्दे तथा हिंडोलों की कोमल शय्या के अतिरिक्त कठोर पृथ्वी पर पैर नहीं रखा, मैंने जिससे कभी दीप शिखा को ढारने के लिये नहीं कहा। सार्वभौव चक्रवर्त्ति सम्राट् दशरथ की पुत्रवधू सौन्दर्य की खानि, मेरी प्राणाधार सीता तुम्हारे साथ वनयात्रा की कामना प्रकट कर रही है। क्या मानसरोवर में विहार करने वाली राजहंसनी नमक के समुद्र में रह सकेगी? भयंकर वन्य हिंसक पशुओं के घोर चीत्कारों से पूर्ण वन में किस प्रकार विचरण करेंगी? बाल्यकाल से ही सीता ने कोई भयंकर दृश्य नहीं देखा क्योंकि यह तो बंदर के चित्र को देखकर ही डर जाती है। यह भला उन गम्भीर वनों में अपने दिन किस प्रकार बितायेगी? बेटा राम! ऐसे लक्षणों वाली सीता तुम्हारे साथ वन जाने को उद्यत है इसके लिये तुम्हारी क्या आज्ञा होती है। यदि मेरी प्यारी पुत्रवधू तुम्हारे साथ वन को न जाकर मेरे पास रहे तो चौदह वर्ष के तुम्हारे वियोगजनित दुःखों को सहन करने के लिये यह

मेरे लिये अवलम्ब रहेगी । रामायण में उद्धृत इस प्रसंग का मनन करने से आपको विदित होगा कि उस पुनीत काल में मर्यादा का पालन कितने सुन्दर ढंग से होता था। माता जानकी स्वयं अपने मनोगत विचारों को श्रीराम से प्रकट कर उनसे आज्ञा प्राप्त कर सकतीं थीं किन्तु उन्होंने ऐसा न कर अपनी सासू जी के द्वारा पतिदेव के सामने अपनी अभिलाषा प्रकट की। साथ ही अपनी बहू के प्रति माता कौशिल्या की जैसी भावना थी वह इस प्रसंग से भलीभाँति विदित होती है:—

पलक पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥
जियन मूर जिमि जुगुवत रहहेउ। दीप बति नहिं टारन कहेउँ॥
सोइ सिय चहत चलन बन साथा। आयुस कहा होइ रघुनाथा॥
चन्द्रकिरन रस रसिक चकोरी। रवि रुख नयन सकै किमि जोरी॥

करि केहरि निसिचर चरहिं, दुष्ट जन्तु बनि भूरि।
विष वाटिका कि सोह सुत, सुभग सजीवन मूरि॥

बन हित कोल किरात किसोरी। रची बिरंचि विषम सुख भोरी॥
खाइ न कृमि जिमि कहिन सुभाऊ। तिन्हहि कलेश न कानन काऊ॥
कै तापस तिय कानन जोगू। जिन तप हेत तजा सब भोगू॥
सिय बन बसहि तात केहि भाँती। चित्र लिखित कपि देखि डराती॥
सुर सर सुभग वनज बनचारी। डाबर जोग कि हंस कुमारी॥
अस विचार जस आयुस होई। मैं सिख देउँ जानकी सोई॥
जौ सिय भवन रहइ कह अम्बा। मोहि कहँ होई बहुत अवलम्बा॥

श्रीरामचरित मानस के उपरोक्त चित्रण से वर्तमान काल की कलह प्रिय सास और बहुओं को शिक्षा ग्रहण करना चाहिए। आजकल प्रायः सास और बहू की कलह होने पर एक दूसरे को रामायण का उपदेश

करने लगती हैं। बहू सास से कहती है कि एक सास कौशिल्या जी थीं जिन्होंने अपनी बहू से कभी भी दीपक की बत्ती को हटाने तक के लिये नहीं कहा और एक तुम हो जो मेरे दिन भर काम करते रहने पर भी नाक भौं चढ़ाये रहती हो तथा सास कहती है कि एक बहू सीता जी थीं जो अपनी सास के सामने अपने पति से बात तक नहीं करती थीं, आजकल की तुम्हारी जैसी कलयुगी बहुएँ आकर फट-फट पति से बातें करती हैं, तुम पढ़ी लिखी जैसी बहुओं ने तो लज्जा को तिलाञ्जलि ही दे डाली है, इत्यादि-इत्यादि। इस प्रकार के वाद-विवाद से एक दूसरे को उपदेश मिश्रित आदेश देती हैं किन्तु वे इस बात को सर्वथा भूल जाती हैं कि पहले हमें अपने कर्त्तव्य का पालन प्राणप्रण से करना चाहिये।

कथा के रहस्य को समझने से अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन रहकर दूसरे के कर्त्तव्य पर हमारी जो दृष्टि जाती है उससे विदित होता है कि स्वयं अपने में ही परदोष दर्शन का दोष छिपा हुआ है। इसका कारण भी यही विदित होता है कि पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव ने भारत की भावी माताओं को कर्त्तव्य परायण न बनाकर अधिकार-प्रिय बना दिया है।

वास्तव में अनेक दास दासियों के रहते हुए भी यथासम्भव अपने सास श्वसुर तथा पति की सेवा का भार जानकी जी ने अपने ऊपर ही ले रखा था। अतएव किसी बात को कहने की माता कौशल्या को आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। अपने कर्त्तव्यपथ पर अग्रसर होने की इच्छुक देवियाँ यदि यह निश्चय करलें कि हम अपने भावी जीवन के निर्माण करने के लिये परदोष दर्शन का सर्वथा त्याग कर देंगी तो

उन्हें निश्चय ही सफलता मिलेगी और वे अपने आदर्श से स्त्री जीवन को सफल बनाते हुए सम्पर्क में आने वाली अन्य स्त्रियों की मार्ग-दर्शिका बनकर पुण्य और यश का लाभ लेंगी।

सीता जी के सम्बन्ध में माता कौशल्या के इस प्रकार कहने पर मर्य्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने अपनी प्रिया को वन के दुःख तथा भयानक कष्टों का दिग्दर्शन कराया तथा अनेक प्रकार की युक्तियाँ सीता जी को अयोध्या लौटाने के लिये की किन्तु पतिव्रताओं में अग्रगण्य जनक नन्दिनी जानकी जी अपने निश्चय को न बदल सकीं। श्रीराम ने कहा:—

राजकुमारि सिखावनि सुनहू। आनि भाँति जियजनि कछु गुनहू॥
आपन मोर नीक जौं चहहू। वचन हमार मानि गृह रहहू॥
आयसु मोरि सासु सेवकाई। सब विधि भामिनि भवन भलाई॥
एहि ते अधिक धरम नहिं दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा॥
जब जब मातु करिहि सुधि मोरी। होइहि प्रेम विकल मति भोरी॥
तब तब तुम कहि कथा पुरानी। सुन्दरि समझायहु मृदु बानी॥
कहहुँ सुभाय सपथ सत मोहीं। सुमुखि मातु हित राखऊँ तोहीं॥

गुरु श्रुति सम्मत धर्म फल, पाइहि बिनहिं कलेश।
हठ वश सब संकट सहे, गालव नहुश नरेश॥

भगवान् श्रीराम की ऐसी युक्तियों से जब महारानी सीता ने अपने निश्चय को न बदला तो उन्होंने वन की महान् विपत्तियों का वर्णन किया:—

कानन कठिन भयंकर भारी। घोर घाम हिम वारि बयारी॥
कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहिं बिनु पद त्राना॥

चरन कमल मृदु मञ्जु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे॥
कंदर खोह नदी नद नारे। अगम अगाध न जाहिं निहारे॥
भालु बाघ बृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरजु भागा॥

भूमि सयन बलकल बसन, असन कंद फल फूल।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं, सबुइ समय अनुकूल॥

नर अहार रजनीचर करहीं। कपट वेष विधि कोटिक धरहीं॥
लागइ अति पहार कर पानी। बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी॥
ब्याल कराल बिहग बन घोरा। निसिचर निकर नारि-नर चोरा॥
डरपहिं धीर गहन सुधि आए। मृग लोचनि तुम भीरु सुभाए॥
हंस गवनि तुम्ह नहिं बन जोगू। सुनि अपजस मोहि देइहिं लोगू॥
मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जिअइ कि लवन पयोधि मराली॥
नव रसाल बन बिहरन सीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥
रहहु भवन अस हृदय बिचारी। चंद बदनि दुख कानन भारी॥

सहज सुहृद गुरु स्वामि सिख, जो न करइ सिर मानि।
सो पछिताइ अघाइ उर, अवस होइ हित हानि॥

इस प्रकार वन की भयंकरता का भयभीत करने वाला वर्णन सीता जी के प्रति भगवान् श्रीराम ने इसी अभिप्राय से किया है कि सहन न करने योग्य कष्टों को सुनकर भय से अपने विचार बदल देंगी किन्तु सदैव अपने लक्ष्य की ओर दृष्टि रखने वाले मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधाओं की रञ्चक परवाह नहीं करते। लक्ष्य प्राप्ति के निमित्त वे अपने प्राणों की बाजी लगा देते हैं। जगत जननी जानकी जी को अपने पतिदेव के द्वारा वर्णन किये गये भयावह सम्वाद को सुनकर तनिक भी भय न हुआ, तनिक भी उत्साह मंद न हुआ। वे अपने

सत्य आग्रह पर आरूढ़ रहीं। माता कौशल्या तथा पतिदेव की अनेक बातों को सुनकर उन्होंने वाद-विवाद नहीं किया, अपने निश्चित मंतव्य को प्रकट करने के निमित्त उन्होंने संक्षेप में ही उत्तर दिया, उनका वह संक्षिप्त भाषण इस बात का द्योतक है कि पतिव्रत का आदर्श रखने वाली नारियों को किस प्रकार अपने गुरुजनों की बातों का उत्तर देना चाहिये। उन्होंने कहा कि आपने जिन कष्टों का वर्णन किया है क्या ये सब कष्ट मेरे ही निमित्त बनाये गये हैं, क्या आपके शरीर पर इन कष्टों का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्या आपका शरीर वज्र के समान कठोर है, इसीलिये क्या आपको तपस्या और मेरे लिए भोग तथा ऐश्वर्य की व्यवस्था होनी चाहिए? जो भी हो आप यदि मुझे अपनी सेवा में स्वीकार न करके यहीं छोड़ जावेंगे, तो मेरा कोई बस नहीं है किन्तु यह निश्चित है कि यदि मेरा यह शरीर आपके साथ न जासका तो यह प्राण अवश्य ही आपके पास जा पहुँचेंगे। थोड़े से शब्दों में अपने दृढ़ निश्चय की सूचना उन्होंने दे दी। जिस समय अपने पूज्य पतिदेव के द्वारा सीता जी वन के कष्टों को श्रवण कर रही थीं और जब भगवान् राम यह कहते थे कि तुम्हें मेरी शिक्षा मानकर अपने आग्रह को त्याग कर देना चाहिए, भगवान् श्रीराम की ऐसी शीतल वाणी को सुनकर उन्हें मर्मांतक कष्ट होता था। उस समय विवश होकर वे नमित मुख अविरल अश्रु धारा प्रवाहित करती थीं जैसा कि नीचे वर्णन कि यागया है।

सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के। लोचन ललित भरे जल सियके॥
सीतल सिख दाहक भइ कैसे। चकइहि सरद चंद निसि जैसे॥

प्राननाथ करुनायतन, सुन्दर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु, सुरपुर नरक समान॥

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते । पिय बिनु तियहि तरनि ते ताते ॥
तनु धनु धाम धरनि पुर राजू । पति विहीन सब सोक समाजू ॥
प्राननाथ तुम बिनु जग माहीं । मो कहँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं ॥
जिय बिनु देह नदी बिनु वारी । तैसेहि नाथ पुरुष बिनु नारी
वन दुख नाथ कहे बहुतेरे । भय विषाद परिताप घनेरे ॥
प्रभु वियोग लवलेस समाना । सब मिलि होइ न कृपानिधाना ॥
अस जिय जानि सुजान सिरोमनि, लेइअ संग मोहि छाड़िअ जनि॥
मैं सुकुमारि नाथ वन जोगू । तुम्हहिं उचित तप मो कहँ भोगू ॥

ऐसेउ वचन कठोर सुनि, जौं न हृदय विलगान ।
तौ प्रभु विषम वियोग दुख, सहिहहिं पाँवर-प्रान ॥

अन्त में पतिव्रता शिरोमणि जानकी जी के सत्य आग्रह की विजय हुई । वे अपने पति तथा देवर के साथ वन गामिनी हुईं । चौदह वर्षों में उन्होंने जो महान् कष्ट सहन किये, उनकी करुण कहानी के स्मरणमात्र से पत्थर का भी हृदय पिघल जाता है । दुर्दान्त मदोन्मत्त रावण के द्वारा हरण होने पर तथा रावण द्वारा साम, दाम, दण्ड तथा भेद सभी युक्तियों तथा प्रलोभनों को तिरस्कृत करती हुई महारानी सीता ने जिस अपार सहन-शीलता का परिचय दिया, उससे आज को साधारण सा संकट पड़ने पर विचलित हो जाने वाली देवियों को शिक्षा लेकर हृदय में साहस का संचार करना चाहिए ।

अशोक वाटिका में जिस समय वे महाभयावनी असुर-नारियों के बीच में घिरी हुई अपने अतीत एवं भविष्य का स्मरण कर रही थी, उस समय प्रायः नित्य ही उन्हें रावण की आसुरी सम्पत्ति का परिचय मिलता रहता था । राक्षसियों द्वारा कभी वे भयभीत की जाती, कभी

प्रलोभन के लिये रावण के ऐश्वर्य का आश्चर्यजनक वर्णन कानों को अपवित्र बनाता। इस प्रकार नित्य कोई न कोई नई क्रिया होती ही रहती थी, किन्तु वे तो अहर्निशि अपने पति भगवान् श्रीराम के चिन्तन में दुःख के दिन व्यतीत करती थीं। कई बार स्वयं रावण ने आकर अपने अपार बल वैभव के द्वारा सीता जी को आकृष्ट करना चाहा। किन्तु उसका कोई फल न देखकर खड्ग द्वारा समाप्त कर देने की धमकी दी किन्तु ऐसे संकटकाल में भी महारानी सीता ने अपूर्व साहस का परिचय दिया। वह अपने आदर्श को बनाने वाली महिलाओं के लिये अनुकरणीय हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक परिस्थिति में सीता जी ने सतीत्व की रक्षा की।

जिस समय मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र के साथ वे वनयात्राके समय महर्षि अत्रि के आश्रम में पहुँची थी, उस समय पतिव्रता शिरोमणि अनुसुइया जी ने जो उपदेश सीता जी को किया था, श्री रामचरित मानस में उसका वर्णन बड़े सुन्दर रूप से किया गया है। अपने उत्कर्ष की इच्छुक प्रत्येक स्त्री को इस प्रसंग के पाठ एव स्मरण द्वारा अपने अन्तःकरण को उज्वल बनाते रहना चाहिये।

मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी॥
अमित दानि भर्त्ता वैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥
धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परखिये चारी॥
वृद्ध रोग बस जड़ धन हीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पतिकर किये अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥
एकइ धर्म एक व्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा॥
जग पतिव्रता चारि बिधि अहहीं। वेद पुरान सन्त सब कहहीं॥

उत्तम के अस बस मनमाहीं ; सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥
मध्यम परपति देखइ कैसे । भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ॥
धर्म विचारि समुझि कुल रहई । सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहई ॥
बिनु अवसर भय ते रह जोई । जानेहुँ अधम नारि जग सोई ॥
पति वञ्चक परपति रति करई । रौरव नरक कलप सत परई ॥
छन सुख लागि जनम सतकोटी । दुख न समुझ तेहि सम को खोटी ॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई । पतिव्रत धर्म छाड़ि छल गहई ॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई । बिधवा होइ पाइ तरुनाई ॥

सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहइ ।
जसु गावत स्रुतिचारि, अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय ॥

अनुसुइया जी द्वारा सीता जी के प्रति किये गये इन उपदेशों से अपनी मानसिक स्थिति की तुलना करते हुए अपने भविष्य का निर्माण करने के निमित्त पतिव्रता को तदनुसार अपनी रहनी बनानी चाहिए।

रावणकी पराजय के पश्चात् सीता अशोक बाटिकासे भगवान् श्रीराम के सम्मुख लाई गईं। तब अन्तर्यामी राम ने सीता के उज्ज्वल चरित्र को यथार्थ रूप से भलीभाँति जानते हुए भी लोक-हित की भावना से मर्यादा की रक्षा के निमित्त समस्त सेना के सामने कुछ कटु शब्दों का प्रयोग किया, जिन्हें सुनकर समस्त उपस्थित जनों को आश्चर्य तथा दुःख हुआ। किन्तु प्रजा वत्सल श्रीराम के मन में तो सदैव प्रजा की हित-भावना ही छिपी रहती थी। उन्होंने विचार किया कि यदि मैं सीता को इसी प्रकार स्वीकार कर लेता हूँ तो जनता यही समझेगी कि सामर्थ्यवान् पुरुष सभी कुछ कर सकते हैं। प्रत्यक्ष रूप से तो भले ही कोई कुछ न कहे किन्तु सभी के मन में ऐसी भावना का होना

स्वाभाविक है कि इतने दीर्घ समय तक सीता जी रावण के यहाँ रहीं और राम ने बिना किसी परीक्षा के स्वीकार कर लिया। अतएव उन्होंने अपने को शुद्ध प्रमाणित करने के लिए सीता जी से अग्नि परीक्षा के लिए कहा। सीता जी सहर्ष प्रज्वलिताग्नि में प्रविष्ट हुईं और पतिव्रत के प्रभाव से उन्हें आँच भी न लगी। समस्त जनता ने जगज्जननी माता जानकी का जयघोष किया। अन्तःकरण के कलुष और कालिमा को नष्ट करने वाला सीता जी का यह पावन चरित्र सदैव विश्व की नारियों को मार्गदर्शक के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा।

"महासती अनुसुइया"

जगज्जननी श्री जानकी जी को पतिव्रत धर्म का उपदेश करने वाली महासती अनसुइया की पुनीत गाथा भारत के प्राचीन इतिहास में गौरव की वस्तु है। अनुसुइया जी महर्षि अत्रि की धर्मपत्नी थी। महर्षि पतितपावनी सुरसरि के पुनीत जल में स्नान करने के निमित्त नित्य ब्राह्ममुहूर्त में जाया करते थे। पुण्य सलिला भागीरथी उनके आश्रम से बहुत दूर थीं। वृद्ध महर्षि को वहाँ तक आने जाने में जो शारीरिक कष्ट होता था उसे देखकर अनुसुइया जी को बड़ा क्लेश होता था। महर्षि के नियम में परिवर्तन होना असम्भव जानकर अनुसुइया जी ने अपने पातिव्रत धर्म के प्रभाव से आश्रम के निकट ही गंगा की धारा प्रकट कर दी। जो आज भी मन्दाकिनी के नाम से विख्यात है। पतिव्रता के ऐसे चमत्कार को देखकर देवता भी चकित रह गये।

नारद जी द्वारा यह सन्देश लक्ष्मी, ब्रह्माणी तथा पार्वती जी ने भी सुना। नारद जी ने कहा कि आजकल अनुसुइया जी से बढ़कर समस्त त्रैलोक्य में पतिव्रता स्त्री नहीं है। मर्त्यलोक की नारी की

ऐसी प्रशंसा सुनकर स्वाभाविक ईर्ष्यावश तीनों देवियों ने संघटित रूप से अनुसुइया की परीक्षा लेने के निमित्त अपने-अपने पतियों मे कहा। थोड़ी आनाकानी के पश्चात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर सन्यासियों का वेष वनाकर महर्षि अत्रि के आश्रम पर पहुँचे। दैव-योग से महर्षि उस समय उपस्थित न थे। अपनी कुटिया पर इन तीनों महापुरुषों को आया देख अनुसुइया जी को हार्दिक प्रसन्नता हुई। आगन्तुक अतिथि सत्कार उन्होंने मनोयोग से किया। भोजन करने की प्रार्थना करने पर छद्मवेशी साधु बोले कि हम लोगों का ऐसा नियम है कि जो माता हमें भोजन करावे, वह नग्न होकर परोसे। ऐसी अनोखी बात सुनकर अनुसुइया जी आश्चर्य-चकित रह गईं। उन्होंने विचार किया कि यदि मैं इनका प्रस्ताव अस्वीकार करूँ तो अतिथि सेवा का व्रत भंग होता है। यदि उनके कहे अनुसार नग्न होकर परोसती हूँ तो भावनाओं के शुद्ध होते हुए भी पातिव्रत धर्म में वट्टा लगता है, किन्तु इस प्रकार के नियम में अवश्य ही कोई न कोई गूढ़ रहस्य जान पड़ता है। साधुवेषी त्रिदेव ने विलम्ब होता देखकर कहा, "माता ! यदि आपको हमारा प्रस्ताव स्वीकार नहीं है, तो हम विवश होकर जाते हैं।" धर्म-संकट में पड़ी हुई माता अनुसुइया बोली, भगवान् ! यदि आप भिक्षा किये बिना मेरे यहाँ से विमुख चले जायेंगे तो मेरा व्रत भंग हो जायगा। महात्मा बोले कि हम लोगों के पास अधिक समय नहीं है, आप यदि भोजन कराना चाहती हैं तो हमारे प्रस्ताव के अनुसार ही कराइये। धर्म संकट में पड़ी हुई अनसुइया जी ने जब तत्क्षण अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाकर महात्माओं के इस प्रस्ताव का रहस्य जानने के लिये ध्यान किया तो योगवल तथा पातिव्रत धर्म के प्रभाव से उन्हें विदित हुआ कि ये तीनों आगन्तुक

महापुरुष इस छद्मवेष में त्रिदेव हैं तथा मेरी परीक्षा करने के निमित्त यहाँ पधारे हैं, ऐसा जानकर अनुसुइया जी बहुत प्रसन्न हुईं। मन ही मन अपने भाग्य को सराहती हुई उन्होंने दृढ़ संकल्प किया कि यदि मैं वास्तव में पतिव्रता हूँ तो मेरे धर्म के प्रभाव से ये त्रिमूर्ति इसी क्षण नन्हें, दुधमुँहे बालक बन जायें। ऐसा संकल्प कर उन्होंने तीनों पर गंगाजल छिड़क दिया। पातिव्रत धर्म की अमोघ-शक्ति के प्रभाव से ब्रह्मा, विष्णु और महेश ६-६ माह के बालक बनकर रुदन करने लगे। तब अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उन्हें अनुसुइया जी ने नग्न होकर स्तनपान कराया। तीनों शिशु पालने में झूलने लगे।

घूमते घूमते देवर्षि नारद महर्षि अत्रि के आश्रम पर इस परीक्षा का परिणाम जानने के निमित्त पधारे। उन्होंने देखा कि ये तीनों शक्तियाँ तो शिशु बनकर पालनों की शोभा बढ़ा रही हैं, उन्होंने माता अनुसुइया को अनेक धन्यवाद दिये तथा उनके भाग्य की सराहना की और फिर विनोद से एक-एक बालक को उठाकर गोद में खिलाने लगे। वहाँ कुछ देर ठहरकर वे इस सुन्दर समाचार की सूचना देने के लिये क्रमशः लक्ष्मी, ब्रह्माणी एवं पार्वती की सेवा में पधारे। इस आश्चर्यजनक घटना को सुनकर तीनों देवियाँ स्तब्ध रह गईं। उस समय उन्हें नारद जी पर बहुत क्रोध आया। लक्ष्मी जी ने कहा कि क्या आपका यही काम रहता है कि इधर उधर आग लगाते फिरें? पार्वती जी बोलीं कि न आप हमें अनुसुइया जी के उत्कर्ष की बात सुनाते और न हम लोग अपने पतियों को उनकी परीक्षा के निमित्त भेजतीं। ब्रह्माणी ने कहा कि न जाने इन्हें इधर-उधर करने में क्या आनन्द आता है। विनोद प्रिय नारद जी ने उत्तर दिया कि अब आप लोगों के इस प्रकार रुष्ट होने से काम न चलेगा। अपनी

सासु के पास जाकर अपने अपने पतियों को ले आइये और उनके तरुण होने की बाट देखिये। ऐसी व्यंगोक्ति सुनकर उन्होंने विचारा कि इस समय क्रोध करने से काम नहीं चलेगा। जिस व्यक्ति को नारद जी ने उलझाया है वही उसे सुलझा भी सकते हैं तब उन्होंने नारद जी से अनुनय-विनय की और पूछा कि इस समय हम लोगों को उचित परामर्श दीजिये। हँसते हुए नारद जी बोले कि अब आप ठीक राह पर आई हैं। अच्छा, तो फिर आप तीनों मेरे साथ ही अपनी सासु जी के दर्शन के लिये मर्त्यलोक में महर्षि अत्रि के आश्रम पर चलिये। अस्तु ये तीनों महादेवियाँ नारद जी के साथ अनुसुइया जी से अपने पतियों को लौटाने के निमित्त पधारीं। नारद जी कुटिया के बाहर से ही झाँक झाँक कर होने वाली घटना को देखने लगे। तीनों देवियों ने पहुँचकर अनुसुइया जी को प्रणाम किया। अखण्ड सौभाग्यवती होने का उन्हें आशीर्वाद मिला, सबका नेतृत्व करती हुई लक्ष्मी जी ने कहा, 'माता हम लोग आपके पास बड़ी आशा लेकर एक याचना करने आई हैं।' अनुसुइया जी इन देवियों के आने का रहस्य कुछ कुछ समझती हुई बोलीं कि मेरे इन बालकों को छोड़ इस संसार में कोई वस्तु अदेय नहीं है। आप निःसंकोच कहें कि मैं आप लोगों की क्या सेवा कर सकती हूँ। लक्ष्मी जी ने कहा कि ये तीनों बालक ही तो हम तीनों के आराध्यदेव हैं। संयोग से उसी समय महर्षि अत्रि कुटिया में पधारे, उन्होंने देखा क नन्हें तीन बालक पालने में झूल रहे हैं तथा तीन देवियाँ एक ओर बैठी हुई अनुसुइया से वार्तालाप कर रही हैं। खड़ाऊँ की खटपट सुनकर अनुसुइया जी ने कहा कि आप खांस खखार कर अन्दर पधारें। यहां आप की तीन-तीन बहुएँ बैठी हुई हैं। महर्षि अत्रि के पीछे नारद जी भी आरहे थे। उन्होंने कहा कि नियम तो ऐसा

है कि पति अपनी पत्नी को विदा कराने ससुराल जाया करता है किन्तु आपके यहाँ की परिपाटी विचित्र है कि बहुएँ अपने पतियों को विदा कराने आई हैं। महर्षि अत्रि इस गोरखधन्धे को कुछ भी न समझ सके। तब नारद जी ने उन्हें आद्योपान्त समस्त घटना कह सुनाई जिसे सुनकर महर्षि अत्रि हर्ष-विह्वल हो अपने भाग्य की सराहना करने लगे। उन्होंने कहा, 'आज मेरा मानवजीवन धन्य हुआ।' अनुसुइया जी ने कहा कि जब मेरी सूनी गोद इस प्रकार अनायास भर गई, तब उसे सूनी बनाने के लिये ये देवियां पधारी हैं। मैं अपने पुत्रों का वियोग कैसे सहन कर सकूँगी। नारद जी ने कहा कि आपकी इस ममता में यदि ये मूर्तियाँ बालक बनी हुई पालने में ही झूलती रहेंगी तो फिर सृष्टि का क्रम कैसे चलेगा और फिर अपने द्वार पर आई हुई इन मलिनमना देवियों की ओर भी तो दृष्टिपात कीजिये। महर्षि अत्रि ने कहा, 'प्रिये! नारद जी का कहना ठीक ही है, तुम अपनी इस ममता तथा वात्सल्य को सब भूत-प्राणियों की हित भावना से बलिदान कर दो।' पतिदेव की ऐसी आज्ञा पाकर उनके कमण्डल से हाथ में गंगाजल लेकर तीनों बालकों के शरीर पर छिड़कते हुए बोली कि यदि मैं अपने धर्म से कभी स्वप्न में भी विचलित न हुई होऊँ, तो ये बालक अपने वास्तविक रूप, में प्रकट हो जायें। जल के छिड़कते ही जगन्नियन्ता भगवान् विष्णु जगत्कर्ता ब्रह्मा जी तथा भूत भावन देवादिदेव भगवान् शङ्कर प्रकट हो गये। प्रेमाश्रु प्रवाहित करते हुए महर्षि अत्रि तथा अनुसुइया जी ने उनकी प्रार्थना की। तीनों ने प्रसन्न होकर ऋषिदम्पति से वर मागने को कहा जिसके फलस्वरूप भगवान् दत्तात्रेय का प्राकट्य हुआ।

वास्तव में पातिव्रत धर्म की महिमा का वर्णन क्षुद्र लेखनी द्वारा

असम्भव है। महासती अनुसुइया जी के चरित्र से शिक्षा लेकर भारत के नव-निर्माण में सहयोग देने के लिए माताओं को दृढ़ संकल्प होना चाहिए क्योंकि नारियों के द्वारा ही नर-रत्न उत्पन्न होकर देश को सन्मार्ग पर ले जाते हैं।

"पतिव्रता गान्धारी"

महाभारत के पाठक जानते हैं कि कौरवों की जननी, धृतराष्ट्र की धर्मपत्नी गान्धारी ने पातिव्रत धर्म का जैसा आदर्श उपस्थित किया, वह पतिव्रताओं के इतिहास में अभूतपूर्व है। उन्होंने देखा कि मेरे जन्मान्ध पति संसार के सुख वैभव का अवलोकन नहीं कर सकते तो धर्मपत्नी के नाते नेत्रेन्द्रिय का सुखोपभोग करना मेरे लिये भी अनुचित है। यदि मैं इन नेत्रों से भोग करूँगी तो धर्म से च्युत हो जाऊँगी। ऐसा विचार कर उन्होंने दृढ़ संकल्प किया और सदैव के लिये आँखों पर पट्टी बाँध ली। नेत्र होते हुए भी नेत्र हीना बनकर जीवन व्यतीत किया। इसके परिणाम स्वरूप उनकी आन्तरिक शक्तियाँ जाग्रत होगईं। उस काल में वे पतिव्रताओं की सिरमौर मानी गईं। एकबार दुर्योधन ने विचार किया कि यदि मेरा शरीर किसी अनुष्ठान से वज्र तुल्य बन जाय तो संग्राम में शत्रु द्वारा पराजित होने का भय सदैव के लिये जाता रहेगा। ऐसा विचार कर अपना परामर्श करने के लिये वह धर्मराज युधिष्ठिर के पास पहुँचा क्योंकि वह यह बात भलीभाँति जानता था कि सत्य पालन के प्रभाव से सत्यवादी धर्मराज के अन्तःकरण में सर्वज्ञता का प्रादुर्भाव हो गया है। अतएव इस सम्बन्ध में उन्हींसे परामर्श लेना उचित है। धर्मराज, के पास पहुँचकर दुर्योधन ने कहा कि भैया धर्मराज आपका ज्ञान सर्वतोमुखी है। आप मुझे उचित परामर्श दें कि मैं किस अनुष्ठान के द्वारा अपने शरीर को वज्र

तुल्य बनाकर अजेय बन सकता हूँ। धर्मराज तो स्वप्न में भी असत्य का प्रयोग नहीं करते थे। अतएव उनकी शत्रु और मित्र में समत्व-भावना थी। उन्हें यह ज्ञात ही था कि इस रहस्य को बताने से पाण्डवों का अहित ही होगा। फिर भी उन्होंने दुर्योधन से कहा भइया तुम्हें किसी अन्य अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं। हमारी चाची गाँधारी पतिव्रताओं में अग्रगण्य हैं, उन्हें अपने पतिव्रतधर्म पालन करने के प्रभाव से दिव्य शक्ति प्राप्त है। उनके नेत्रों के तेज से तुम्हारी मनोभिलाषा पूर्ण हो जावेगी। मेरे विचार से तुम उनसे यह प्रार्थना करो कि वे अपनी आँखों से पट्टी खोलकर तुम्हारे अंग प्रत्यंग पर दृष्टि डालें, तो तुम्हारा शरीर वज्र तुल्य बन सकता है। किन्तु माता के सामने तुम्हें नग्न होकर जाना पड़ेगा। दुर्योधन जानते थे कि धर्मराज स्वप्नमें असत्य नहीं बोलते। अतः यह बात उसकी समझ में आगई। मन ही मन प्रसन्न होकर धर्मराज को धन्यवाद देता हुआ वह अपनी माता गाँधारी के भवन में जाने को उद्यत हुआ। लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को भी यह सूचना मिली। वे तो पाण्डवों के परम हित-चिंतक थे और भावी युद्ध के रहस्य को भी जानते थे। उन्होंने यह विचारा कि इसका समस्त शरीर वज्र तुल्य बन गया तो फिर अजेय होने के कारण इसके आसुरी स्वभाव से देश का अहित होगा। पाण्डव भी विजय लाभ न कर सकेंगे। मार्ग में उन्होंने दुर्योधन को जा घेरा। उस समय दुर्योधन आनन्द की मस्ती में झूमता हुआ भविष्य की सुख कल्पना करता, माता गाँधारी के महल में जा रहा था। हँसते हुए भगवान् ने कहाः—

"भइया सुयोधन! आज तो बड़े प्रसन्न जान पड़ते हो। जैसे कोई अमूल्य निधि हाथ लगी हो।" दुर्योधन उस समय इतना प्रसन्न था कि अपने आन्तरिक भावों को छिपा न सका।

इसने कहा—"हां बात तो कुछ ऐसी ही है अब मैं दीर्घ काल तक अजेय होकर सार्वभौम राज्य का उपभोग करूँगा।"

आश्चर्य प्रदर्शित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण बोले— अच्छा ! यह जानकर तो मैं बहुत प्रसन्न हुआ।" क्या तुम्हें किसी देवता ने अजेय होने का वरदान दिया है ?

अपने उल्लास को दबाता हुआ सुयोधन बोला कि बात यह है कि धर्मराज युधिष्ठिर के द्वारा मुझे यह विदित हुआ है कि पातिव्रत धर्म के प्रभाव से माता गांधारी के नेत्रों में ऐसी शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ है कि वे यदि पट्टी खोलकर मेरे शरीर पर दृष्टि डालेंगी तो मेरा शरीर वज्र-तुल्य बन जायगा।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—बात तो बिल्कुल ठीक है किन्तु नवयुवक होकर माता के सामने पूर्ण रूप से नग्न होकर जाने में क्या तुम्हें तनिक भी संकोच नहीं होगा ? धर्मराज की इस बात में मुझे सत्यता के साथ ही साथ बदला लेने की भावना छिपी जान पड़ती है।

चकित होकर दुर्योधन बोला, 'कैसे ?'

श्याम सुन्दर ने किञ्चित गम्भीर होकर कहा—तुम्हें स्मरण होगा दुर्योधन ! कि जब पाञ्चाली को तुमने दुःशासन द्वारा भरी सभा में नग्न होने की आज्ञा दी थी तब इन पाण्डवों ने मन ही मन यह निश्चय किया था कि यह हमारी पत्नी को भरी सभा में नग्न करना चाहता है, तो इसके बदले में अवसर मिलने पर इसे इसकी माता के सामने ही नग्न कर न भेजा तो हमारे जीवन को धिक्कार है। मेरी समझ से तो यही विदित होता है कि इस अवसर से वे लोग अपनी आन्तरिक प्रतिज्ञा की पूर्ति कर रहे हैं। दुर्योधन ने ऐसा सुनकर विचार

किया कि कृष्ण बात तो ठीक कह रहे हैं। सम्भव है धर्मराज की ऐसी ही अन्तर्भावना हो। अतएव मैं अब माता के सामने लंगोट पहन कर जाऊँगा।

अस्तु भगवान् तो अपने भक्तों के निमित्त दुर्योधन को छलकर एक ओर चले गये और दुर्योधन अपनी माता गाँधारी के महल में पहुँचा। एक दासी द्वारा उन्हें विदित हुआ कि उनका ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन आया है। माता ने कहा—"बेटा सुयोधन! इस समय तुम्हारा आगमन किस हेतु हुआ? माता के चरणों में मस्तक रखते हुए दुर्योधन विनीतभाव से बोला—"माता जी! मुझे धर्मराज के द्वारा विदित हुआ है कि आपके नेत्रों में दिव्यशक्ति विद्यमान है। यदि आप कृपा करके पट्टी खोलकर मेरे शरीर को देख लेंगी तो मेरा शरीर वज्र तुल्य हो जायगा और मैं आपकी इस कृपा से चिरकाल तक अजेय रहकर राज्य का उपभोग कर सकूँगा माता। गांधारी ने कहा—"बेटा! इस सम्बन्ध में मैं तो कुछ नहीं कह सकती, किन्तु धर्मराज का कहना तो सत्य ही होगा। तुम तैयार हो जाओ, मैं आंखों से पट्टी खोल लेती हूँ। दुर्योधन ने अपने सभी वस्त्र उतार दिये। लंगोट पहन कर अपनी कामना की पूर्ति में मूर्तिवत खड़ा हो गया। माता ने पट्टी खोली। वे दुर्योधन के जिस-जिस अंग पर दृष्टि डालती गईं, वह उनकी दिव्यशक्ति के कारण र य बनता गया किन्तु लंगोट बंधा हुआ स्थान जैसे का तैसा बना रहा अर्थात् उसका वह छिपा हुआ अंग कच्चा बना रहा। यदि वह भगवान् कृष्ण के छल को समझकर पूर्णरूप से नग्न होकर माता के सामने जाता, तो कदाचित भीमसेन की गदा से न मारा जाता। किन्तु ऐसा होता भी कैसे? जो होने वाला होता है उसीके अनुसार बुद्धि बन जाती है। पतिव्रता

गान्धारी की जीवन-गाथा से विदित होता है कि पातिव्रतधर्म का पालन करने से स्त्रियों में अलौकिक शक्तियों का प्रादुर्भाव हो जाता है जिनके द्वारा वे असम्भव को भी सम्भव बना सकती हैं। उनके तेज के सम्मुख त्रैलोक्य भी नतमस्तक हो जाता है। ऐसी पावन गाथाओं से अपना प्राचीन इतिहास हमारे गर्व और गौरव को बढ़ाता है। सती नारियों में विधाता के विधान को मेटने की शक्ति संचित हो जाती है। सती सावित्री के कथानक से पाठक भलीभांति परिचित ही हैं कि उन्होंने पातिव्रतधर्म पालन के प्रभाव से अपने मृतपति सत्यवान को यमराज के पंजे से छुड़ाकर पुनर्जीवन दिलाया। धर्मराज को भी सावित्री के पातिव्रत-धर्म के प्रभाव से अपने विधान को बदलना पड़ा।

जिस प्रकार एक योगी को योग प्रभाव से भूत भविष्य तथा वर्तमान का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार पतिव्रता नारियों को अपने कर्त्तव्य पालन के प्रभाव से ऐसी शक्ति की प्राप्ति हो सकती है। प्राचीन काल में जांज्वलि नाम के एक ऋषि वन में तपस्या कर रहे थे। कुछ दिनों तक तपश्चर्या में निरत रहने के पश्चात् एक दिन जब वे नियमानुसार एक वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न बैठे थे, उसी समय दैवयोग से उस वृक्ष पर बैठे हुए एक पक्षी ने बीट कर दी जो ऋषि के सिर पर गिरी। तब स्वाभाविक ही ऊपर की ओर उन्होंने देखा। ध्यान भंग होने से उन्हें किञ्चित रोष हुआ। ऊपर पक्षी पर दृष्टि पड़ते ही वह पक्षी भस्म होकर नीचे गिर पड़ा। अपने तप का ऐसा प्रभाव देखकर ऋषि ने अपनी तपस्या सफल समझी। उन्होंने विचार किया कि अब मुझमें पर्य्याप्त शक्ति का संचय हो गया है। अपनी सफलता के गर्व का अनुभव करते हुए जांज्वलि ऋषि वहाँ से तीर्थाटन को चल दिये। मार्ग में

एक नगर में पहुँचकर भिक्षा के समय एक सद्गृहस्थ के द्वार पर पहुँचकर 'नारायण हरि' का उच्चारण किया। उस समय भीतर से आवाज आई, भगवन् कुछ समय आप प्रतीक्षा करें, मैं अभी भिक्षा लेकर आती हूँ। वह पतिव्रता स्त्री उससमय अपने कोढ़ी पति की सेवा में संलग्न थी। ऋषि ने पुनः नारायण हरि का उच्चारण किया। अन्दर से पुनः उत्तर मिला कि महात्मन्! मैं शीघ्र ही आती हूँ, आप तनिक प्रतीक्षा करें। कुछ क्षण बाद उन्होंने किञ्चित क्रोध मिश्रित स्वर से आवाज़ लगाई। उस समय ऋषि में अपने तपोबल का अभिमान जाग्रत हो गया। उन्हें उससमय पक्षी के भस्म होने वाली घटना का स्मरण भी हो आया। संकल्प उठा कि इस गृहस्थ को शाप देना चाहिये, भीतर से आवाज़ आई कि महात्मन्, यहाँ किसी पक्षी का घोंसला नहीं है। इस वाक्य को सुनकर ऋषि जैसे आकाश से गिर पड़े। उन्हें महान् आश्चर्य हुआ कि अभी तो मैंने किसीसे भी इस घटना का वर्णन नहीं किया, फिर इस स्त्री को वन की एकान्त में घटित होने वाली उस घटना की सूचना कैसे विदित हुई।

ऋषि इन्हीं विचारों में निमग्न थे कि कुछ देर से भिक्षा लिये हुए स्त्री भीतर से आई। जांजलि ऋषि ने उस स्त्री से पूछा कि माता तुम्हें पक्षी की घटना का ज्ञान कैसे हुआ। स्त्री ने कहा महात्मन्! मैं अपने कर्त्तव्यधर्म में आलस्य नहीं करती हूँ। मैं अपने पति की सेवा ईश्वर भावना से करती हूँ, मेरे पति प्रारब्धवश कुष्ठ रोग से पीड़ित हैं किन्तु उनकी सेवा में मुझे घृणा की भावना जाग्रत नहीं होती। सम्भव है कि अपने धर्म पालन में निरत रहने के कारण मुझे भगवत्कृपा से इस आन्तरिक शक्ति की प्राप्ति हुई हो। ऐसे वचन सुनकर जांजलि ऋषि

का अभिमान गलित हो गया। पतिव्रता की इस गाथा से यह विदित होता है कि योगीजन अपने योगबल से जिन शक्तियों का संचय करते हैं, उन्हीं शक्तियों को अपने धर्म पर आरूढ़ रहने वाली पतिव्रता नारी भी प्राप्त कर सकती है।

रामराज्य कालीन आदर्श शिक्षा तथा उसका प्रभाव

गृहस्थाश्रम की अवधि समाप्त होने के पश्चात् जीवन के तृतीय भाग वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर अपना जीवन जनता जनार्दन की सेवा में व्यतीत करने वाले महापुरुष अपनी योग्यता के अनुसार सेवा कार्य में तत्पर हो जाते थे। इन्हीं महापुरुषों द्वारा गुरुकुलों और ब्रह्मचर्य आश्रमों की स्थापना होती थी, जिनमें सद्गृहस्थों के बालक नियमानुसार विद्याध्ययन करते थे। विद्यार्थियों से शुल्क इत्यादि लेने का कोई नियम नहीं था। समस्त प्रबन्ध राज्य की ओर से होता था। सद्गृहस्थों के संस्कारी बालक इन आश्रमों में प्रविष्ट होकर शिष्टाचार सदाचार, धर्म, राजनीति, संगीत, यौगिकक्रियाएँ, शास्त्र-विद्याएँ, कलाकौशल तथा अर्थशास्त्र की शिक्षा प्राप्त करते हुए प्राकृत स्थानों के वातावरण तथा प्राकृत नियमों के पालन करने के प्रभाव से स्वस्थ रहते थे। ब्रह्मचर्य पालन करने से शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियाँ जाग्रत हो जाती थीं। उस काल में आज के समान कागज स्याही तथा पुस्तकों आदि का ऐसा भारी बोझ विद्यार्थी के मस्तिष्क पर नहीं रहता था। उस समय के विद्यार्थियों के लक्षण निम्नलिखित श्लोक के अनुसार होते थेः—

काकचेष्टा वकोध्यानं, श्वाननिद्रा तथैव च।
स्वल्पाहारी गृह-त्यागी, विद्यार्थी पञ्च लक्षणम् ॥

कौआ जिस प्रकार हर समय चौकन्ना रहता है, इस प्रकार विद्यार्थी को सदैव प्रतिक्षण चौकन्ना रहना चाहिये। बगुला जिस प्रकार ध्यान मग्न होकर मछली क ताक में बैठा रहता है, इसी प्रकार विद्यार्थी को विद्याध्ययन में ध्यान लगाना चाहिये। कुत्ता जिस प्रकार तनिक सी आहट मिलते ही निद्रा को त्याग सचेत हो जाता है, विद्यार्थी को उसी प्रकार निद्रा को वश में करके आलस्य का त्याग करना चाहिये। स्वल्पाहार का नियम बनाने से आलस्य अपना विशेष प्रभाव नहीं डाल पाता, मन भी शुद्ध रहता है। उस समय के विद्यार्थियों के इस नियम को पूर्णतया पालन करने से उनकी बुद्धि तमोगुणी तथा रजोगुणी न बनकर शुद्ध सतोगुणी बन जाती थी। यह गुरुकुल नगर से दूर वनस्थलियों में बनाये जाते थे। विद्याध्ययन काल की अवधि में विद्यार्थी को घर पर जाने का अवकाश इस कारण नहीं दिया जाता था कि यदि वह बालक अपने माता पिता के समीप पहुँचकर रजोगुणी तथा ममत्व के वातावरण में जायगा, तो उसके मस्तिष्क और मन से वहां के शुद्ध सतोगुणी वातावरण का प्रभाव कम हो जायगा। ऐसा होने से अवश्य ही उस विद्यार्थी की उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जायगा। इस प्रकार के कठोर नियमों की छाया में रहने से तपाये हुये स्वर्ण के समान उसकी जीवन-चर्या बन जाती थी। गुरु के द्वारा जो उन्हें एक बार पाठ स्मरण करने के लिये दिया जाता था, उसे वे एक ही बार में ब्रह्मचर्यपालन के प्रभाव से याद कर लेते थे। इसीलिये उन्हें एकपाठी के नाम से स्मरण किया जाता है। प्रायः ऐसा भी होता है कि जो विद्यार्थी पूर्व संस्कारवश कुशाग्र बुद्धि नहीं

होते थे, उन्हें भोजपत्र अथवा पृथ्वी पर लिखकर पाठ याद करा दिया जाता था।

समान वेष-भूषा तथ रहन-सहन के प्रभाव से दीर्घकाल तक एक साथ रहने के कारण सहपाठी ब्रह्मचारियों में परस्पर अद्वितीय प्रेमभाव जाग्रत हो जाता था। राजा और रंक दोनों के बालकों के हृदय घुलमिल कर ऐसे मिल जाते थे जैसे पानी दूध में मिलकर एक हो जाता है। प्रेम की ऐसी एक पुनीत गाथा संदीपनगुरु के आश्रम में शिक्षा पाने वाले राजराजेश्वर श्रीकृष्ण और रंकशिरोमणि सुदामा के चरित्र से मिलती है। शिक्षा की अवधि समाप्त होने के पश्चात् लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण द्वारिकापुरी पधारे और समय आनेपर उनका राज्याभिषेक हुआ और विप्र सुदामा भी स्नातक बनकर अपने घर चले गये। किन्तु जन्म जन्मान्तर के संचित प्रारब्धवश सदैव उन्हें दारिद्र्य-संकट का सामना करना पड़ा। उनकी स्थिति यहां तक शोचनीय बन गई थी कि किसी-किसी दिन अन्नाभाव के कारण उन्हें सपरिवार सोलह दण्ड एकादशी का सा व्रत करना पड़ता था। विप्र सुदामा ऐसी परिस्थिति में भी सदैव प्रसन्न रहते थे। वे जानते थे कि पुरुषार्थ करने के पश्चात् हमें जिस फल की प्राप्ति होती है, उसीमें सन्तोष करना हमारा परम कर्त्तव्य है, क्योंकि असन्तोषी ब्राह्मण अपने धर्म से च्युत हो जाता है:—

असन्तुष्टः द्विजोनष्टः, सन्तुष्टः च महीपतिः।
सलज्जा गणिका नष्टा, निर्लज्जा च कुलाङ्गनः॥

अर्थात् जो ब्राह्मण असन्तोषी है, वह अपने मार्ग से च्युत हो जाता है और सन्तोषी पृथ्वी का स्वामी होता अर्थात् राज्य पाता है। वैश्या यदि

लज्जा करे, तो वह अपने कुल में प्रशंसनीय नहीं हो सकती; यदि लज्जा त्याग दे तो कुल में श्रेष्ठ कहलाती है। सुदामा जी की धर्मपत्नी कभी-कभी संकट से दुखी होकर अपने पूज्य पतिदेव से कहती थी कि आप तो कहा करते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण मेरे मित्र हैं। क्या इस भयंकर विपत्ति से छुटकारा पाने के लिये उनकी सहायता लेना युक्ति संगत न होगा? ऐसा सुनकर हँसते हुए विप्र सुदामा कहते कि वे मेरे मित्र अवश्य सबकुछ कर सकते हैं, किन्तु मैं स्वयं ही ऐसा करना नहीं चाहता। अपने शरीर की रक्षा के लिये याचना करने में बहुत दुःख होगा। इस जीवन में संकट भोग कर भी यदि हम कर्त्तव्यपथ से विचलित नहीं होंगे, तो हमारा परलोक सुधर जायगा। इतनी आयु तो व्यतीत हो चुकी, अब शेष थोड़े से जीवन के लिये क्षणभंगुर तथा नाशवान् पदार्थों की याचना उनसे करना मुझे तो उचित नहीं लगता। दम्पत्ति में प्रायः आयेदिन इसी प्रकार की वार्ता चलती रहती। दैवयोग से एक बार घर में एक दाना भी अन्न का न रहा। तब पत्नी ने दृढ़तापूर्वक विनय करके अपने पति सुदामा को भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी से मिलने के लिये जाने को राजी कर लिया। सुदामा जी ने विचार किया कि चलो, इसी बहाने अपने प्रियतम सखा के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हो जायगा और धर्मपत्नी का हठ भी पूरा हो जायेगा। प्रियमिलन की उत्कण्ठा तथा गुरुकुल के संस्मरण विप्रवर को आनन्दमग्न बनाने लगे। उन्होंने अपनी पत्नी से कहा कि राजराजेश्वर श्रीकृष्ण की भेंट के लिये कुछ न कुछ तो होना ही चाहिये। घर में अन्न का एक दाना भी नहीं है। पत्नी ने कहा कि आप चिन्तित न हों, मैं शीघ्र ही अपनी सहेली के यहां से कुछ न कुछ तो ले ही आऊँगी। ऐसा कहकर एक पड़ोसी के यहां से थोड़े चावल मांग लाई।

उन चावलों को एक पोटली में बाँधकर विप्र सुदामा ने द्वारिकापुरी की ओर गमन किया। मार्ग के संकटों को सहन करते हुए और मन में भगवान् के दर्शन का उल्लास लिये वे द्वारिकापुरी पहुँचे, आश्चर्यचकित से राजमहल की विशाल अट्टालिका के समीप पहुँचकर प्रतिहारी से उन्होंने पूँछा कि भैया! क्या राजराजेश्वर द्वारिकानाथ का महल यही है? जीर्णशीर्ण वस्त्रों में विप्र को चकित सा देखकर प्रतिहारी बोला कि आप कौन हैं? कहाँ से पधारे हैं? किस निमित्त द्वारिकानाथ को पूँछते हैं।

विप्र सुदामा बोले, "भैया वे तो मेरे परम प्रिय सखा हैं। हम दोनों ने एक साथ ही गुरुकुल में शिक्षा पाई थी।" ऐसा सुनकर दो-तीन दरवान ठट्ठा मारकर हँसे। उन्होंने समझा कि यह कोई पागल है। उनमें से एक बोला कि जाओ भाई, अपना काम करो। संकुचित होते हुए सुदामा जी ने कहा कि भाई, तुम्हें मेरी बात पर विश्वास नहीं होता, इसीलिये हँस रहे हो। किन्तु मेरी प्रार्थना स्वीकार कर तुम उनसे जाकर यह कह दो कि तुम्हारे बाल-सखा सुदामा ब्राह्मण तुम्हारे दर्शनों के लिए द्वार पर खड़े हैं। उन द्वारपालों में से एक कुछ अधिक बुद्धिमान् था। उसने विचार किया कि अपने स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण अखिल ब्रह्माण्ड-नायक हैं, लीला पुरुषोत्तम हैं, भू-भार हटाने के निमित्त इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए हैं, सम्भव है उनकी यह कोई लीला हो और उसमें कोई रहस्य छिपा हो। उसने कहा कि विप्रवर आप अधीर न हों, तनिक यहीं विश्राम करें, मैं शीघ्र ही स्वामी को आपके आगमन का समाचार देता हूँ। तब वह द्वारपाल राजमहल के भीतर जाकर करबद्ध नतमस्तक होकर भगवान् श्रीकृष्ण से विनीत भाव से बोला—

शीश पगा न झगा तन पै, नहिं जानै को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी, अरु पाँय उपानहुँ की नहिं सामा॥

द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक, रह्यौ चकि सो वसुधा अभिरामा ॥
पूंछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपुनो नाम सुदामा ॥

द्वारपाल के द्वारा सुदामा का नाम सुनते ही रानियों से घिरे हुए भगवान् श्यामसुन्दर उन्मत्त के समान दौड़ते हुए द्वार पर पहुँचे और अपने बालसखा को हृदय से लगा लिया। अत्यन्त प्रेम विभोर होने के कारण उनके कमल लोचनों से अश्रु धारा प्रवाहित हो चली। कण्ठावरोध के कारण वे वाणी द्वारा कुछ न बोल सके। भगवान् का ऐसा व्यवहार देख द्वारपाल स्तब्ध रह गये। भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा को अन्तःपुर में ले गए। रुक्मिणी आदि पटरानियाँ आश्चर्य चकित सी भगवान् की इस लीला को देखने लगीं। रत्नजड़ित स्वर्ण सिंहासन पर विप्रवर को बैठाकर उनके पाद प्रक्षालन के निमित्त स्वर्ण की परात मँगाई गई। उस समय का वर्णन कविवर नरोत्तमजी ने क्या ही सुन्दर किया है—

ऐसे बिहाल बिवाइन सों भए कंटक जाल गड़े पुनि जोये।
हाय महा दुख पायो सखा! तुम आये इतै न किते दिन खोये॥
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिके करुना-निधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं नैनन के जल सों पग धोये॥

अपने बालमित्र की ऐसी दीन-हीन दुर्बल दशा तथा फटे चीथड़ों को देख अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने वास्तविक परिस्थिति का अनुमान कर लिया। अश्रु धारा प्रवाहित करते हुए वे बोले कि भैया, संकट और विपत्तियों के आने पर भी तुम मुझे बिलकुल ही भूल गए। इतना कष्ट सहन करने पर भी कभी तुमने मेरा स्मरण न किया। इतना कहने के पश्चात् फिर उनके चरणों में लगे हुए काँटे और छाले

देखकर सन्तदुःखभञ्जन भगवान् अपनी करुणा को न रोक सके। परात का पानी तो एक ही ओर रक्खा रह गया और विप्र का पाद-प्रक्षालन भगवान् के कमल-नेत्रों द्वारा प्रवाहित अश्रु धारा से ही होगया। इस मंगलमय कारुणिक-दृश्य को देखकर समस्त रानियाँ भगवान् की दीन-वत्सलता पर मुग्ध हो गद्गद् होकर धन्य २ कह उठीं। इस कारुणिक दृश्य के उपरान्त प्रकृतिस्थ होने पर श्यामसुन्दर ने अपने विप्रसखा से पूछा, भैया! भाभी ने मेरे लिये क्या वस्तु भेजी है? सुदामा तो इस घटना से स्तब्ध से हो रहे थे, वे सब कहना सुनना भूलकर समाधिस्थ से बैठे थे, उन्हें स्वप्न में भी ऐसी आशा न थी कि भगवान् श्रीकृष्ण मेरा इस रूप में स्वागत करेंगे। जब उन्होंने सुना कि मेरे लिए क्या लाये हो तो वे चौंकते हुए से संकोच में पड़ गये। भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा कि सुदामा जी अपनी बगल में एक पोटली भी दबाये हुए छुपाने की चेष्टा कर रहे हैं; विनोद-प्रिय भगवान् ने वह पोटली झपटकर छीन ली। यह परिहासमय दृश्य देख समस्त रनिवास हँस पड़ा। बिचारे सुदामा जी अत्यन्त संकुचित हो गये। भगवान् बोले भइया! तुम्हारा चोरी का स्वभाव अभी गया नहीं। तुम्हें स्मरण होगा कि गुरु सन्दीपन के यहाँ एक बार वन में जब हम और तुम दोनों यज्ञ के लिये समिधाएँ लाने गये थे, और गुरुमाता ने हम दोनों को भूख लगने पर खाने के लिये कुछ चबेना दिया था वह तुम अकेले ही चट कर गये थे, और आज भी भाभी ने जो कुछ मेरे लिए भेजा है उसेभी मुझे देना नहीं चाहते। ऐसा कहकर पोटली खोल कर त्रिलोकीनाथ भगवान् श्रीकृष्ण ने दोनों मुट्ठियों में सुदामा के लाये हुए चावल भर लिये और शीघ्र ही बड़े स्वाद से चबाने लगे। भगवान् को प्रेमपूर्वक चावलों का भोग लगाते हुये देखकर विप्रवर सुदामा आनन्द के महासागर में गोते लगाने लगे। उस समय उन्हें ऐसा सुख मिला, मानो त्रैलोक्य का साम्राज्य प्राप्त हुआ हो। इस प्रकार

आमोद-प्रमोद के वातावरण में सुदामा जी का जब बहुत समय व्यतीत हो गया तब एक दिन सुदामा जी ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा अब मुझे जाने की आज्ञा दीजिये। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—भैया यह क्या तुम्हारा घर नहीं है, ऐसी शीघ्रता क्या है ? जब सुदामा जी जाने को उद्यत होते तभी श्रीकृष्ण जी उन्हें प्रेमपूर्वक रोक लेते थे। सुदामा जी ने यह भी विचार किया कि अपनी वास्तविक परिस्थिति श्रीकृष्ण जी को बतलानी चाहिए । ऐसा विचार उठते ही वे उसे दबा लेते थे, उस समय उनके मन में यह संकल्प बनता कि यदि मैंने कुछ याचनाकी तो यह मुझे क्षुद्र समझेंगे। अतएव वे परम संतोषी ब्राह्मण कुछ न माँग सके उनकी इस मानसिक परिस्थिति का ज्ञान घट-घट वासी लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण जानते ही थे। जिस समय उन्होंने अपने प्रिय-सखा की दीनहीन दशा में देखा था उसी समय वे लीलामय प्रभु अपने प्रिय-मित्र के दारिद्र-संकट को दूर करने के लिए कृतसंकल्प हुए थे। स्नातक बन जाने के पश्चात् सुदामा की उन्हें कोई सूचना नहीं मिली थी। इस काल में मेरे परम संतोषी मित्र ने यह जानते हुए भी कि मेरा दारिद्र श्रीकृष्ण की सूचना में आते ही तत्क्षण दूर हो सकता है, तो भी उन्होंने मुझे कोई सूचना न दी। विप्र के इस स्वभाव पर भगवान् द्रवित हो गये, उनके इस स्वभाव को स्मरण कर ही मित्र-मिलन के समय उनके कमल-लोचनों से अश्रु-धारा प्रवाहित हुई थी। जिस समय सुदामा के बगल से पोटली छीन-कर कृष्ण ने दो मुट्ठी चावलखाये तथा शेष तीसरी मुट्ठी समाप्त करने के लिए उद्यत हुए तब रुक्मिणी जी ने उनका हाथ पकड़ कर उनके हृदय-भावों को जानते हुए यह कहा था कि नाथ आप यह क्या कर रहे हैं ? विप्रवर को आप दो लोकों का ऐश्वर्य और वैभव प्रदान कर ही चुके अब कुछ अपने लिए भी तोर हने दीजिये।

वास्तव में उस समय अपने संकल्प द्वारा विश्वकर्मा को भेजकर

सुदामा के निवास स्थान अर्थात् वे जिस घास-फूस की झोपड़ी में रहते थे उसे पूर्णकला से रात्रि भर में निर्मित कर दिया। प्रातःकाल आँख खुलने पर सुदामा की धर्मपत्नी ने देखा कि वह एक राजमहल में सुन्दर रत्नजटित पलंग पर सोई हुई है और सभी अंग आभूषणों से भरे गए हैं। पहले तो उन्होंने समझा कि मैं कोई सुन्दर स्वप्न देख रही हूँ, किन्तु अधिक देर तक ऐसी स्थिति न रह सकी। वे पलंग से उठी और बाहर निकल कर देखा कि परिचारिकाएं हाथ जोड़े आज्ञा की प्रतीक्षा कर रही हैं, अत्यन्त विस्मय और आश्चर्य में पड़ी हुई सुदामापत्नी से एक परिचारिका ने कहा आप आश्चर्यचकित क्यों हैं? सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी लीलामय भगवान् श्याम-सुन्दर ने अपने परम प्रिय सखा को दारिद्रय-संकट से मुक्त कर शेष जीवन सुखमय व्यतीत करने के लिये यह ऐश्वर्य प्रदान किया है। यह सभी सेविकाएँ विश्वकर्मा की आज्ञा से आप की सेवा में उपस्थित हैं। ब्राह्मणी के नेत्रों से प्रेम, भक्ति, करुणा और आनन्द की गंगा यमुना प्रवाहित हो चली, वे इस विशाल अट्टालिका में निर्मित भगवान् के मन्दिर में पहुँच कर प्रभु की प्रस्तर-मूर्ति के चरणों पर लोट कर अपने आनन्द के भार को हलका करने लगी।

उधर भगवान् से विदा लेकर विप्रवर सुदामा अपने गृह की ओर चल पड़े। उस समय उन्हें शरीर पर पहने हुए वस्त्रों के अतिरिक्त कुछ भी भगवान् की ओर से प्राप्त नहीं हुआ था। बहुत दूर तक मार्ग में पहुँचकर और प्रेमपूर्वक उन्हें रथ में बैठाकर भगवान् द्वारिकापुरी लौट गये। मार्ग में सुदामा के मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प बनते रहे, उन्होंने सोचा कि समस्त संसार इन्हें अन्तर्यामी कहता है किन्तु यह मेरी दरिद्रता को दूर न कर सके। कभी सोचते कि उसमें इनका दोष ही क्या है। मैंने भी तो कुछ संकेत नहीं किया था। कभी उनके मन में ऐसी भावना होती कि यदि मैं कुछ याचना करता तो अवश्य कुछ न कुछ दे ही देते, किन्तु ऐसा होने से मेरे प्रति जो आदर

भाव है वह अवश्य कम हो जाता। खैर जो हुआ सो अच्छा ही हुआ क्योंकि अपने भक्त को मायापाश में आबद्ध होने से भगवान् सदा ही दूर रखते हैं, यह भी उनकी विशेष कृपा है। सच्चा भक्त तो वही है जो प्रतिकूल परिस्थिति में भी जीवन यापन करता हुआ सद्विवेक द्वारा प्रभु की कृपा का सम्पादन करता रहे।

इसी प्रकार के विचारों में निमग्न भक्त-प्रवर परम सन्तोषी सुदामा उस स्थान पर पहुँचे जहाँ पर उनकी फूस की कुटिया थी जिसमें वे अपनी धर्मपत्नी सहित कभी निवास करते थे। किन्तु उनके आश्चर्य का पारावार न रहा। उन्होंने देखा कि उस झोंपड़ी का कहीं चिह्न भी नहीं है वहाँ पर तो विशाल राजप्रासाद निर्मित हो गया है। फाटक के द्वार पर प्रहरी नियुक्त हैं। प्राचीर के भीतर सुन्दर फलोंवाले वृक्षों का उद्यान है जिसमें दास-दासियाँ इधर से उधर आते-जाते हैं। उद्यान के बीच में विशाल अट्टालिका पथिक के मनको आकर्षित करती है। सहसा उन्होंने देखा कि एक स्त्री उस महल से निकल कर इसी ओर आ रही। उसके साथ दो दासियाँ हाथ में थाल लिये हुए जिनमें पूजा की सामग्री है, उनको ओर चली आ रही हैं। समीप आकर सुदामा जी ने देखा कि रानियों जैसे वस्त्रालंकारों से परिवेष्टित यह तो मेरी ही धर्मपत्नी के समान कोई स्त्री है। वे इन्हीं विचारों में निमग्न थे कि उस आगन्तुक महिला ने प्राणनाथ! कहते हुए चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम किया। विप्रवर तो पहले से ही आश्चर्य सागर में डूबते उछलते थे। स्त्री के इस व्यवहार को देखकर उनका आश्चर्य सीमोलंघन कर गया। उन्होंने पीछे हटते हुए कहा यह क्या करती हो देवि! परपुरुष को इस प्रकार प्रणाम करना मर्य्यादा के विरुद्ध है। स्त्री ने कहा कि अरे आप यह क्या कहते हैं। तनिक मेरी ओर तो देखिए, आप क्या बिलकुल पहचान नहीं सकते हैं? क्या भगवान् श्री कृष्ण ने यह सब रहस्य आपको नहीं बताया। "अरे यह

क्या, इस महिला की वाणी भी मेरीपत्नी जैसी मालूम पड़ती है, मन ही मन विचारते हुए वे बोले। यह सब क्या गोरख धंधा है ? तुम इस राजमहल में कैसे आई। ऐसे सुन्दर वस्त्रालंकार कहाँ से प्राप्त हुए और वह हमारी फूस की झोपड़ी कहाँ गई ? क्या किसी प्रलोभन में पड़कर तुम धर्मच्युत तो नहीं हो गई ? इस प्रकार की संदेहमय वाणी सुनकर पत्नी ने कहा "आप किसी प्रकार का संदेह न करें, यह सब चमत्कार करुणामय आपके प्रिय सखा त्रिलोकीनाथ भगवान् श्रीकृष्ण का है उनकी असीम अहैतुकी कृपा से क्या नहीं हो सकता। सुदामा जी को सहसा वह दृश्य स्मरण हो आया, जब भगवान् ने पोटली छीनकर दो मुट्ठी चावल खाए थे और उसके पश्चात् देवी रुक्मिणी ने उनका हाथ पकड़ कर कहा था कि "विप्रवर को आप दो लोकों का साम्राज्य दे चुके अब कुछ अपने लिए भी शेष रखना है या नहीं" उन्हें यह भी स्मरण हुआ कि मैंने व्यर्थ ही भगवान् के प्रति मन में संदेह किया था। इन्हीं विचारों में निमग्न वे राजमहल में प्रविष्ट हुए। वहाँ के ऐश्वर्य और सुख भोगों को देख उन्हें वैसी प्रसन्नता नहीं हुई जैसी उनकी धर्मपत्नीको हुई थी, क्योंकि वे जानते थे कि ऐश्वर्य और वैभव मानवको मदोन्मत्त बना कर कर्त्तव्य-विमुख कर देते हैं। उन्होंने भगवान्की सच्चे हृदयसे प्रार्थना की कि प्रभो ! मुझे ऐसे वैभव की कामना स्वप्न में भी न थी, अब यदि आपने प्रदान किया है तो मैं इसे अब आपकी धरोहर जानकर कभी आसक्त न होऊँ। जीवन पर्यन्त विप्रवर सुदामा सुख ऐश्वर्य में रहते हुए भी पद्मपत्रवत् रहे, अन्त में परमधाम के अधिकारी बने।

राजा और रंक की यह पावन गाथा हमारे मन को पवित्र बनाती हुई यह बताती है कि प्राचीनकाल में ब्रह्मचर्याश्रम और गुरुकुलों में जो आदर्श-शिक्षा मिलती थी उसके प्रभाव से उस समय के नागरिक प्रत्येक परिस्थिति में भगवत्कृपा का संपादन करते थे। उस अनुकरणीय शिक्षा का आदर्श लेकर यदि उसे आज भी यत्किञ्चित व्यावहारिक रूप

दिया जावे तो रामराज्य के पुनर्संस्थापन में आशाजनक सफलता मिल सकती है।

वर्तमान शिक्षा के दुष्परिणाम स्वरूप भौतिकवाद के इस उन्नतिशील युग को आज के शिक्षित नवयुवक विकासोन्मुखी मानकर अपने पूर्वपुरुषों तथा प्राचीन सभ्यता को हास्यास्पद मानकर प्रायः कहा करते हैं कि पहले मनुष्य जंगली थे। उन्हें ठीक प्रकार से रहन सहन का ज्ञान नहीं था। वे पाश्चात्य शिक्षा को सर्वश्रेष्ठ मानकर अपने धर्मशास्त्रों तथा अपनी प्राचीन संस्कृति का मखौल बनाया करते हैं। यदि दुर्भाग्य से किसी ग्रामीण माता-पिता ने अपने पुत्र को शिक्षित बनाने के निमित्त स्वयं कष्ट सहन कर पढ़ाने का प्रयत्न किया हो तो पाश्चात्य शिक्षा का विषाक्त प्रभाव उनके पुत्र को कृतघ्नी तथा अभिमानी बनाकर, वृद्ध माता पिता को सदा के लिए उस कल्पित सुखसे वञ्चित कर देता है, जिसकी वे अपने पुत्र से आशा लगाते हैं। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से उनकी संतान जब स्वार्थी और कृतघ्नी बनकर उनका अपमान करती है तो उन माता-पिता को कैसी वेदना होती होगी। इसी प्रकार की एक सत्य घटना उदाहरणार्थ दी जाती है:—

साधारण स्थिति के एक ग्रामीण दम्पति ने अपने पुत्र को शिक्षित बनाने के लिए स्वयं कष्ट सहन कर पढ़ने के लिए बाहर भेजा। आजकी शिक्षा में धन की प्रमुख आवश्यकता होने के कारण उन्हें ऋण भी लेना पड़ा। स्वयं मोटा खाते और मोटा पहनते किन्तु कालेज में पढ़ने वाले अपने पुत्र के लिए प्रतिमास उसकी आवश्यकता पूर्ति के अनुसार मनिआर्डर अवश्य ही भेज देते। कालेज की छुट्टी होने पर जब कभी उनका पुत्र बूट सूट हैट लगाकर गांव में आता तो दम्पति के प्रेम का पारावार न रहता, भविष्य की सुखद कल्पना में आनन्दित होते और गांव वालों से कहते कि मेरा बेटा

किसी न किसी दिन बड़ा आदमी बनेगा। इस प्रकार समय आने पर शिक्षा की अवधि समाप्त हुई और वृद्ध के विशेष प्रयत्न करने पर उनके सुपुत्र को पुलिस के विभाग में नौकरी भी मिल गई। कुछ दिनों के पश्चात् जब वे पुलिस इन्स्पेक्टर बन गए, तब एक बार उनके पिता अधिक समय से अपने पुत्र का समाचार न पाकर ममत्ववश मिलने आए। सायंकाल का समय था, इन्स्पेक्टर साहब के कई मित्र कुर्सियों पर बैठे थे, बीच में एक लम्बी सी टेबिल पड़ी थी, ताश का खेल हो रहा था। कंधे पर झोला लटकाये तनीदार मिर्जई पहने, घुटनों तक धोती चढ़ाये, चमरौधा जूता पहिने हुए इन्स्पेक्टर साहब के वृद्ध पिता पता लगाते हुए वहाँ आ पहुँचे। उन्हें आशा थी कि मेरा सुपुत्र दौड़कर मुझे प्रणाम एवं आदर-सत्कार करेगा, किन्तु उन्हें उस कमरे में आते देखकर इन्स्पेक्टर साहब दूसरी ओर मुख घुमाकर अपने एक मित्र से वार्तालाप करने लगे। पिता ने देखा कि मेरे पूत ने मुझे देखकर भी दूसरी ओर मुख घुमा लिया। वे चुपचाप जाकर एक खाली कुर्सी पर बैठ गए। बैठने के पश्चात् भी उन्हें आशा थी कि कदाचित् दूसरी ओर ध्यान रहने के कारण मेरा आना न जान पाया हो। लगभग १० मिनट का समय व्यतीत हो गया किन्तु इन्स्पेक्टर साहब का ध्यान अपने वृद्ध पिता की ओर आकर्षित न हुआ। सहसा उनके एक मित्र ने पूछा कि यह महाशय कौन हैं, कहाँ से आए हैं, क्या आप इन्हें जानते हैं? दबी हुई जबान से कुछ झेंपते हुए दरोगा जी बोले कि यह गांव के रहने वाले मेरे पिता की जान पहचान के एक पड़ोसी हैं। दरोगा जी ने यह बात बड़े धीरे स्वर में कही थी किन्तु वृद्ध ने एक एक शब्द सुना और वह एक एक शब्द उनके हृदय में तीर की भाँति चुभता गया। आँखों में अंधेरा छा गया। आशा के जो महल बने थे वे क्षण भर में धूलधूसरित हो गए। कुछ क्षणों तक वृद्ध निस्तब्ध पाषाणवत् बैठे रहे फिर सहसा क्रोधावेश में उठकर बोले:—

"दरोगा जी ने कहा कि मैं इनके बाप के जान पहचान का एक पड़ोसी हूँ, परन्तु यह नहीं कहा कि मेरी माँ से भी इनकी जान पहचान है। वृद्ध की बात सब लोग आश्चर्य से सुनने लगे। आगे वृद्ध ने क्रोध से हाँफते हुए कहा—"कुलांगार! अपने जन्मदाता को ही भूल गया, तुझे यह भी स्मरण नहीं रहा कि तेरी माता ने चक्की पीसकर तुझे पढ़ाया। ऋण लेकर मैं सर्वस्व स्वाहा कर बैठा, ऐसी शिक्षा का सत्यानाश हो जिसके प्रभाव से पुत्र अपने पिता को भी भूल जाता है। आज से मैं न तेरा पिता हूँ और न तू मेरा पुत्र। इतना कह कर क्रोध से अधीर आँखों से आँसू बहाते हुए वे वृद्ध शीघ्रता पूर्वक उठकर वहाँ से चले गए। दरोगा जी के सभी उपस्थित मित्र अवाक् और स्तब्ध होकर मूर्तिवत् बैठे रहे। दरोगा जी पर तो जैसे घड़ों पानी पड़ गया। लज्जा से मस्तक झुकाए चुपचाप बैठे रहे।

जिस भारत वर्ष के उज्वल इतिहास में अपने माता पिता के लिये सर्वस्व उत्सर्ग करने की भावना तत्कालीन शिक्षा के द्वारा प्राप्त होती थी, उसी जगद्गुरु भारतवर्ष के आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा से शिक्षित व्यक्ति अपने पिता को भूल जाते हैं। इस दुःखमय वातावरण को देख-देख, पिता के लिये आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत लेनेवाले पितामह भीष्म, अपने अंधे माता-पिता को कन्धे पर काँवर में बैठाकर समस्त भारत के तीर्थों में भ्रमण कराने वाले श्रवणकुमार तथा पिता की आज्ञा से सार्वभौम राज्य को तृणवत् त्याग कर स्वेच्छा से वनवासी बनने वाले श्री राम की दिवगत आत्माएँ आजके इस भयंकर अनर्थकारी अधोगति की ओर ले जाने वाली ऐसी सत्यानाशी शिक्षा के प्रभाव को देखकर कितने कष्ट का अनुभव कर रही होंगी। कालेज व होस्टलों में जाकर देखिए तो आपको पिता की गाढ़ी कमाई के पैसे का दुरुपयोग स्पष्टरूप से देखने को मिलेगा। विद्यार्थियों के कमरों में विलासिता की सामग्री बहुतायत से एकत्रित रहती

है । सिगरेट और सिनेमा की बहार में आपको सब से अधिक छात्र कालेज के ही मिलेंगे । अयुक्त आहार-विहार तथा प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन से ६० प्रतिशत छात्रों का स्वास्थ्य संतोषजनक नहीं होता। ब्रह्मचर्य रक्षा के अभाव से अधिकांश छात्र प्रमेह आदि रोगों से ग्रस्त होते हैं । हमारा यह कथन नहीं है कि सभी छात्रों का चरित्र पतन हो जाता है किन्तु ऐसे छात्र वर्तमान समय में विरले ही मिलेंगे । उनकी संख्या नहीं के बराबर होगी जो ऐसे दूषित वातावरण में रहकर भी पूर्व संस्कारों के प्रभाव से समस्त अवगुणों से दूर रहते हैं । ऐसे सद्-गुणी विद्यार्थी अपने चरित्रबल से स्वयं अपनी उन्नति करते हुए दूसरों के लिये आदर्श बन जाते हैं । वर्तमान शिक्षा के दुष्परिणाम पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उसमें चरित्र को उन्नत बनाने वाली शिष्टाचार और सदाचार की शिक्षा स्कूलों और कालेजों में नहीं दी जाती और सदाचार को महत्व नहीं देते । आज इस गये बीते युग में भी यदि प्रारम्भ काल से ही बालकों को प्राचीन प्रणाली के आदर्श को सामने रखकर देश कालानुसार सदाचार आदि सद्गुणों को मुख्य मानकर शिक्षा का प्रबन्ध हो तो यही बालक भारत के भावी आदर्श नागरिक बनकर रामराज्य के पुनर्स्थापन में सहयोग दे सकेंगे, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है ।

वर्तमान शिक्षा के दुष्परिणाम

हमारी आधुनिक शिक्षा प्रणाली में अनेक दोष हैं जिनका परिहार अत्यंत शीघ्र होना होना चाहिये । शिक्षा का उद्देश्य समाज की मानसिक, शारीरिक और चारित्रिक उन्नति करना है किन्तु हमारी आधुनिक शिक्षा इन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं करती । वह विदेशी रंग में रंगे हुए व्यक्ति पैदा करती है जो अपने हित और समाज के हित में

साम्य नहीं स्थापित कर पाते। फलस्वरूप शिक्षित लोगों का एक नया वर्ग बन गया है जिसमें जन समुदाय से दूर रहने की प्रकृति है।

हमारी शिक्षा सच्चे मानसिक विकास में भी सहायक नहीं है, अन्यथा मौलिकता का अभाव, समाज का सुधार करना शिक्षितों का कर्त्तव्य है किन्तु बिगड़े हुए शिक्षित विकृत समाज का सुधार नहीं कर सकते। ऐसे समाज में रामराज्य की स्थापना की आशा आकाश-कुसुमवत् ही कही जा सकती है। आज की शिक्षा का दुष्परिणाम कितने भयानक रूप में उपस्थित है। आज का सभ्य और शिक्षित युवक जब कालेज की शिक्षा समाप्त कर जीवन के संघर्ष में अग्रसर होता है तो उसका यह संपुट रहता है—

"जेहि विधि सुखी होंहि हम लोगा"

अर्थात् मैं और मेरा कुटुम्ब जैसे बने सुखी होना चाहिए। अपने स्वार्थ पूर्ति के निमित्त चाहें अनेक व्यक्तियों के स्वार्थ की हत्या करनी पड़े, देश का उत्थान हो अथवा वह रसातल को जाए, इसकी तनिक भी चिन्ता मन में नहीं आती। आज के शिक्षित समुदाय में कोई विरला ही व्यक्ति पूर्व संस्कारों वश सफल मानव कहा जा सकता है अन्यथा ऐसी संख्या नहीं के बराबर ही कही जायेगी। तात्पर्य यह है मानव को पशु तथा दानव बनाने वाली आत्माभिमान से विमुख कर देहाभिमान को प्रश्रय देने वाली ऐसी विनाशकारी शिक्षा का आमूल परिवर्तन करने की इस समय देश को जैसी आवश्यकता है वैसी कदाचित वर्तमान युग के पूर्व कभी अनुभव नहीं की गई होगी क्योंकि जनता का नैतिक पतन उस चरम सीमा तक पहुँच चुका है जिसे स्मरण कर अन्धकारमय भविष्य की कल्पना मात्र से मन सिहर उठता है बालिकाओं की शिक्षा में उन्हें आदर्श गृहणी बनाने की शिक्षा होनी चाहिये। उन्हें फैशन की पुतली डान्सप्रिय अथवा अभिनेत्री बनाने से देश का कल्याण नहीं हो सकता है। पातिव्रत धर्म की ज्वलन्त गाथाओं

के स्मरण मात्र से मन पवित्र हो जाता है। उन्हीं आदर्शों को पुनर्जीवन देने के लिये शिक्षा में आध्यात्मिक दृष्टि से परिवर्तन करने की आवश्यकता है क्योंकि बालिकायें ही भावी मातायें बन कर राम लक्ष्मण जैसे आदर्श नर रत्न उत्पन्न करेंगी। जैसा वृक्ष होता है, वैसा ही उसका फल होता है। माता के चरित्र का प्रभाव बालक पर पड़ना अवश्यम्भावी है। रामराज्य का पुनर्जीवन स्थापन करने वाले भारत के मनस्वी नेता इस विषय पर गम्भीरता पूर्वक विचार करें और एक ऐसी निश्चित योजना बनावें जो क्रियात्मक रूप में परिणत होकर बालिकाओं के चरित्र का उत्थान करने में सहायक हो। मनुसंहिता में लिखा है—

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः"

अर्थात् जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवता रमण करते हैं। इस शास्त्रोक्ति के अनुसार वास्तविक अर्थों में नारी की सच्ची पूजा यही है कि उसे आध्यात्मिक दृष्टिकोण से शिक्षित बनाकर देश को पुनः उसी गौरव की ओर ले जाने में सहायक बनाया जाय जिसकी कल्पना का नाम रामराज्य का पुनर्स्थापन कहा जाता है।

राष्ट्र का निर्माण शिक्षा पर अवलम्बित है, इतिहास इस बात का साक्षी है कि देश में जब कोई परिवर्तन हुआ तब उस परिवर्तन का मूल कारण शिक्षा ही थी। रामायण काल के अनुकरणीय आदर्श का अध्ययन करने से विदित होता है कि उस समय गुरुकुल प्रणाली के अनुसार शिक्षा का आयोजन था। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम ने अपने भाइयों सहित गुरुकुल में ही शिक्षा पाई थी जैसा कि गोस्वामी जी लिखते हैं:—

गुरु गृह गये पढ़न रघुराई। अल्पकाल विद्या सब पाई॥

गुरु के समीप रहकर उन्हें सेवा द्वारा प्रसन्न करते हुए उस समय छात्र विद्याध्ययन करते थे। देश के प्रत्येक नागरिक के लिये अपने-अपने

वर्णाश्रम धर्म के अनुसार शिक्षा दी जाती थी। ब्राह्मण वेदों के पठन-पाठन तथा कर्मकाण्ड में भलीभाँति पारंगत होते थे। क्षत्रियों को अध्यात्म विद्या के साथ राजनीति आदि के साथ साथ शस्त्र विद्या की सर्वोत्तम शिक्षा दी जाती थी। द्विजाति मात्र के बालक गुरु के सन्निकट रहकर विद्याध्ययन करते थे। तत्पश्चात् जब वे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे तब उनका जीवन सर्वाङ्गपूर्ण होता था। उस समय की शिक्षा का प्रभाव था कि प्रत्येक नागरिक अपने को राष्ट्र की एक इकाई मानकर सर्वतोभावेन देश की सेवा के निमित्त सर्वस्व बलिदान कर देते थे। स्वार्थपरता का संकुचित दृष्टिकोण पाप समझा जाता था। प्रत्येक व्यक्ति यही विचार करता रहता था कि मेरे द्वारा देश और समाज की किस प्रकार सेवा हो सकती है। भगवान् श्रीराम सदैव यही विचार करते थे कि सभी लोग किस प्रकार सुखी हों:—

जेहि विधि सुखी होंहि पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोई संयोगा॥

वर्तमान काल में नैतिक पतन का कारण

यदि हमारा लक्ष्य भोगों की प्राप्ति अथवा अधिकार लिप्सा है तो उसी भावना के अनुरूप क्रिया भी होने लगेगी। दम्भ, कपट और पाखण्ड का आश्रय लेने से भले ही जनता कुछ दिनों तक अन्धकार में रहे किन्तु एक न एक दिन प्रकृति के अटल नियमानुसार वह नग्न सत्य आवरणहीन होकर निश्चय ही जनता के सामने प्रकट हो जावेगा जिसे देखकर जनता की अन्तरात्मा का कराह उठना अवश्यम्भावी है। उस समय वह अपनी स्वर्णिम कल्पनायें इस प्रकार धूल धूसरित होते देख विक्षुब्ध हो उठेगी, तब उसीके अनुसार उसका जीवन भी उस गंदे सांचे में ढल जायगा जिसे हम आज घूसखोरी, चोर-बाजारी आदि जघन्य पापों के नाम से पुकारते हैं। वर्तमान युग के नैतिक पतन की चरम सीमा का रहस्य यही है कि—

"जिन्हें हम हार समझे थे, गला अपने सजाने को।
वही अब नाग बन बैठे, हमारे काट खाने को॥"

आध्यात्मिक दृष्टिकोण में सकाम भक्ति को निकृष्ट श्रेणी की भक्ति कहा गया है, क्योंकि बहुधा ऐसा देखा गया है कि सकाम भक्त की कामना जब पूर्ण हो जाती है तब व्यक्ति उन कामनाओं के जाल में ऐसा बद्ध हो जाता है कि विषय भोगों को छोड़ने के लिये उसकी इच्छा ही नहीं होती। वह अपने आराध्यदेव को भी भूल बैठता है माया के आवरण से उसे विषय भोग ही सर्वस्व जान पड़ते हैं। वह उस समय भक्ति का भी निरादर करने लगता है। जिसके द्वारा उसे इन कामनाओं की पूर्ति हुई था। इस प्रकार का एक उदाहरण श्री रामचरित मानस में वानरराज सुग्रीव के चरित्र से मिलता है।

श्री राम की कृपा से सुग्रीव को राज वैभव की प्राप्ति हुई जिसे प्राप्त होने पर वह विषय भोगों में ऐसा अनुरक्त हुआ कि अपनी प्रतिज्ञा को बिलकुल भूल गया, जिस समय सुग्रीव भगवान् श्री राम की शरण आया था तब उसने बड़ी लम्बी चौड़ी बातें कही थीं और उसने यहाँ तक कहा कि—

सुख सम्पति परिवार बड़ाई।
सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥
ये सब राम भगति के बाधक।
कहहिं संत तव पद अवराधक॥
अब प्रभु कृपा करहु यहि भाँती।
सब तजि भजन करउँ दिन राती॥

प्रथम तो वैराग्य का ऐसा प्रदर्शन किया कि अब जैसे किसी माया के बंधन में आबद्ध ही नहीं होंगे किन्तु वही सुग्रीव भोगों की प्राप्ति होने पर कर्त्तव्य विमुख होकर बैठ रहा। नीति और मर्यादा के रक्षक पुरुषोत्तम श्री राम ने जब ऐसी अनीति का आचरण सुग्रीव के द्वारा देखा तो

उसी की हित भावना के विचार से क्रोध का प्रदर्शन करते हुए लक्ष्मण जी को उसे पुनः उचित मार्ग पर लाने के लिए भेजा। लक्ष्मण जी तो इतने क्रुद्ध हुए कि वह तो सुग्रीव को बिल्कुल समाप्त ही कर देना चाहते थे किन्तु भगवान तो शरणागत वत्छल हैं। उन्होंने अपने आश्रित सुग्रीव की युक्ति पूर्वक रक्षा की।

तात्पर्य यह है कि जब लक्ष्य भ्रष्ट हो जाने पर मनुष्य अपने श्रेय साधन से गिर जाता है तब प्रकृति के अटल नियमानुसार उस पर दुख और आपत्तियों का आना अवश्यम्भावी है। यदि उन विपत्तियों के आने पर भी वह अपनी भूल पर पाश्चाताप कर पुनः कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर होकर लक्ष्य प्राप्ति के निमित्त पुरुषार्थ करता है तो सफलता अवश्य प्राप्त कर लेता है। वर्तमान समय में सर्वत्र जो अशान्ति का साम्राज्य दृष्टिगत हो रहा है, आये दिन कोई न कोई नवीन विपत्ति नवीन रूप धारण कर सामने आजाती है। उसके मूल कारण में लक्ष्य भ्रष्टता ही प्रतीत होगी। "सर्वभूत हितेरताः" के सिद्धान्त को विस्मृत कर देने तथा स्वार्थपरता के संकुचित लक्ष्य को अपना लेने के कारण सृष्टि के आरम्भ काल से लेकर आज तक लड़ाई झगड़ा और महायुद्ध हुए। रावण ने अपनी भोगपरायणता के कारण ही अपना सर्वनाश स्वयं ही कर लिया। महाभारत का भयानक विनाशकारी महायुद्ध दुर्योधन की हठधर्मी तथा स्वार्थपरता के कारण ही हुआ। इतिहास के पृष्ठ इस बात के साक्षी हैं कि जब कभी देश में ऐसी आपत्ति जनक परिस्थिति उत्पन्न हुई तब जनता को अशान्ति का सामना करना पड़ा। पिछले महायुद्ध को ही ले लीजिये। हिटलर की महत्वाकांक्षा ने अणुबम तथा परमाणुबम का अविष्कार कराकर संसार को सर्वनाश के गम्भीर गर्त में जा गिराया। दूसरों को नीचा दिखाकर स्वयं ऊँचा बनने की भावना तथा अन्य का अनिष्ट कर अपना इष्ट करने की आकांक्षा एक न एक दिन अपने ही अनिष्ट का

कारण बन जाती है। पृथ्वी में जैसा बीज बोया जाता है उसके अनुसार ही फल की प्राप्ति होती है। आज संसार के सभी देश अन्य देशों को नीचा दिखाकर अपने देश को सम्पन्न बनाने की धुन में ऐसे मदोन्मत्त हो रहे हैं कि उनको हिताहित का परिज्ञान नष्ट हो चुका है। इसका परिणाम क्या होगा, इस बात की किसी को तनिक भी चिन्ता नहीं होती। जिस प्रकार भी हो, उचित हो अथवा अनुचित, हमको सम्पन्नता प्राप्त होनी चाहिये; इस होड़ में सभी देश एक दूसरे से आगे निकल जाते हैं। आज एक देश अणुबम का आविष्कार करता है तो कल उससे भी अधिक विनाशक दूसरा देश परमाणुबम अथवा उद्जन बम का अविष्कार कर लेता है। समाचार पत्रों के समाचार तृतीय महायुद्ध की आशंका प्रकट करते ही रहते हैं। जिस मार्ग में चलते हुये मनुष्य भ्रम वश किसी गड्ढे में गिर कर चोट खा जाता है तो पुनः उस मार्ग में नहीं जाता किन्तु विषय भोगों की मादकता में मनुष्य ऐसा मोहान्ध हो जाता है कि बारम्बार चोट खाने पर भी उसी मार्ग का अवलम्बन करता है।

प्राचीन काल की उन्नति का कारण—आध्यात्मिक विकास

जनता के सौभाग्य से यदा कदा इस धराधाम पर उचित मार्ग का निर्देश करने वाले महापुरुष अवतीर्ण होकर जनता को अपने सदोपदेश तथा चरित्र द्वारा उचित मार्ग पर चलाते रहे हैं, तभी सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित होता रहा है। विश्ववंद्य महात्मा गांधी भी इसी प्रकार के महापुरुष थे किन्तु भारत के दुर्भाग्य ने अथवा यों कहिये कि सीमित और संकुचित दृष्टिकोण ने उन्हें हमारे बीच से हटा लिया। उन्होंने भारत वासियों के लिये जो मार्ग निर्दिष्ट किया था;

गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर उसमें "सर्वभूतहितेरताः" का सिद्धान्त अन्तर्हित जान पड़ता है ।

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र की नरलीला तथा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के श्री मुख से अपने प्रिय सखा अर्जुन को दिये हुए उपदेशों का मनन करने से स्पष्ट विदित होता है कि उन्होंने पहले भोगों को परित्याग करने की शिक्षा हमें दी। कर्मक्षेत्र में उतरने से पूर्व देहाभिमान को सर्वथा नष्ट करने की शिक्षा गीता के दूसरे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने बताई है। उन्होंने बताया कि तू वास्तव में साढ़े तीन हाथ का शरीर मन, बुद्धि अथवा इन्द्रियाँ नहीं है, प्रत्युत इन से परे परम पिता परमात्मा का अविनाशी अंश आत्मा है। यह देह क्षणभंगुर और नाशवान् है। इसके नष्ट होने पर भी तू सदा अजर अमर रहता है। इस आत्मा को न शस्त्र द्वारा काटा जा सकता है और न अग्नि द्वारा जलाया जा सकता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

इस प्रकार सांख्य योग का उपदेश युद्ध से पृथक करने का तात्पर्य हमको शिक्षा देता है कि पहले अपने वास्तविक रूप का ज्ञान उपलब्ध कर हम जो कार्य करेंगे उसमे सफलता अवश्य मिलेगी और यदि परिस्थितिवश असफलता भी मिली तो मानसिक व्यथा से सन्ताप नहीं होगा। भगवान् श्रीरामचन्द्र तथा भरत जी ने प्रथम भोगों का सर्वतो-भावेन परित्याग कर अपने चरित्र द्वारा जनता को शिक्षा दी। पहले त्याग करने की कला सीखो तब उसके पश्चात् तुम संग्रह करने के अधिकारी बन सकते हो क्योंकि त्याग के पश्चात् जो संग्रह किया जायेगा उसमें तुम्हारा संकुचित दृष्टिकोण नहीं रह जायगा। जिस प्रकार दूध से मक्खन निकाल देने के पश्चात् यदि दूध में घी मिलाया जाता है तो वह दूध में मिश्रित नहीं होता, अलग ही रहता है। इसी

प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा जो मनुष्य अपने देहाभिमान को नष्ट कर आत्माभिमानी बन जाता है वह भोगों के बीच में रहकर भी भोगों में आसक्त नहीं होता। उसके द्वारा जनता-जनार्दन की जो सेवा होती है वही सच्ची सेवा है।

अतीत काल में जब हमारा भव्यभारत धर्म प्रधान देश था उस समय प्रत्येक राज्य में एक आध्यात्मिक गुरु अवश्य रहता था। गुरु का शब्दार्थ है गु:=अन्धकार, रु:=दूर करने वाला-अर्थात् अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाले। इन आध्यात्मिक गुरुओं के हाथ में राज्य संचालन की बागडोर रहती थी अर्थात् ये लोग राजाओं को अपने आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा समय-समय पर सचेत करते रहते थे। उसी चेतना के फलस्वरूप राजा लोग उचित रीति से प्रजा का संरक्षण करते थे। यही कारण था कि उस समय की जनता सब प्रकार से सुख सम्पन्न थी। दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से कोई भी संतप्त नहीं था। भगवान् राम के राज्य में महर्षि वसिष्ठ, महाराजा जनक के राज्य में याज्ञवल्क्य, धर्मराज युधिष्ठिर के राज्य में महर्षि धौम्य आदि आध्यात्मिक गुरुओं के परामर्श से ही सब कुछ हुआ करता था। तत्त्वदर्शी गुरुओं द्वारा राज्य के संचालक उपदेश और आदेश पाकर तदनुसार आचरण करते थे। उस आचरण का प्रभाव समस्त जनता पर व्यापक रूप से स्वयं ही पड़ जाता था। भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं श्रीमुख से कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनाः।
सत्यप्रमाणं कुरुते लोकास्तदनुवर्त्तते॥

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी उसके ही अनुसार वर्त्तते हैं। वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है लोग भी उसी के अनुसार चलते हैं। यह सिद्धान्त की बात है कि मनुष्य जिस प्रकार के वातावरण में रहता है उसी के अनुसार उसका

स्वभाव भी बन जाता है। तमोगुण के वातावरण में रहने से तमोगुणी स्वभाव बनेगा वैसी ही क्रिया होगी, रजोगुण के वातावरण में रहने से उसी के अनुसार भावनाएँ बनेंगी तथा क्रिया होगी। इसी प्रकार सतो-गुणी वातावरण में रहने से सतोगुणी बन जाता है जिसके प्रभाव से स्वयं कष्ट उठाकर दूसरे को सुख पहुँचाने की भावना उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इस परिस्थिति में उसे जो शारीरिक कष्ट सहन करने पड़ते हैं उन कष्टों को वह तपस्या मानकर एक प्रकार की प्रसन्नता का अनुभव करता है। अहर्निशि व्यवहार के कार्यों में संलग्न रहने से मनुष्य की बुद्धि रजोगुण से आच्छादित हो जाती है। वह प्रत्येक बात अपनी उसी बुद्धि के अनुसार निश्चय करता है अतएव यह निश्चय है कि रजोगुणी बुद्धि द्वारा निश्चित किया हुआ मत सर्वथा मान्य नहीं हो सकता। उस निश्चय में अवश्य ही भूल हो सकती है। भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ने इस रहस्य का निरूपण करते हुए परमप्रिय सखा अर्जुन को बताया कि मनुष्य की बुद्धि तीन प्रकार की होती है। अर्थात् सात्विकी राजसी तथा तामसी। सात्विकी बुद्धि के ये लक्षण हैं:—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च यः वेत्ति बुद्धि सा पार्थसात्विकी॥

अर्थात्—हे पार्थ प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग को तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को एवं भय और अभय तथा बन्ध और मोक्ष को जो बुद्धि तत्त्व से जानती हो वह बुद्धि सात्विकी है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थराजसी॥

अर्थात्—हे पार्थ जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को कार्य और अकार्य को यथार्थ नहीं जानता वह बुद्धि राजसी है।

अधर्मं धर्मं मिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान विपरीतांश्च बुद्धि सा पार्थ तामसी॥

अर्थात् हे अर्जुन जो तमोगुण से आवृत हुई बुद्धि अधर्म को धर्म, ऐसा मानती है तथा और भी सम्पूर्ण अर्थों को विपरीत ही मानती है वह बुद्धि तामसी है।

मनुष्य जिस रंग का चश्मा अपनी आँखों पर लगाता है उस रंग के अनुरूप ही उसे चारो ओर दिखाई देता है। अतएव वास्तव में तो शुद्ध सतोगुणी बुद्धि द्वारा जो निर्णय किया जाता है वही ठीक समझना चाहिये।

महाभारत का युद्ध समाप्त होने के पश्चात धर्मराज युधिष्ठिर को जब बहुत दुःख और ग्लानि उत्पन्न हुई तब उन्होंने भगवान् कृष्ण से कहा कि अब मुझे इस समय कोई ऐसा उपदेश कीजिये जिसके द्वारा मैं अपनी मानसिक अशान्ति को दूर कर शान्ति प्राप्त कर सकूँ। तब लीला पुरुषोत्तम भगवान कृष्ण ने कहा कि भैया धर्मराज! मैं बहुत दिनों से इस महायुद्ध के भयानक क्रूर कर्म में संलग्न हूँ। अतः मेरी बुद्धि इस समय शुद्ध सतोगुणी नहीं है। अधिक काल से राजसी एवं तामसी कर्म करने के कारण मेरी बुद्धि रजोगुण द्वारा आच्छादित होगई है। अतएव इस समय का मेरा उपदेश तुम्हारे लिये अनुपयुक्त रहेगा। इस समय महाप्रयाण की प्रतीक्षा में बाणों की शय्या पर पड़े हुये पितामह भीष्म निरन्तर आत्म-चिन्तन में निरत हैं अतएव इस समय उनके मुख से निकले हुए वाक्य हम सब के लिये परम शान्ति दायक होंगे। भगवान् श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर धर्मराज युधिष्ठिर उनके तथा अपने सभी भाइयों के साथ भीष्म पितामह के निकट गये और उनसे उपदेश की प्रार्थना की उस समय पितामह जी ने जो उपदेश किया वह महाभारत में "शान्ति पर्व" के नाम से विख्यात है।

उपरोक्त उदाहरण से विदित होता है कि मनुष्य जैसी परिस्थिति तथा वातावरण में रहता है उसीके अनुसार उसकी बुद्धि पर प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी है। यही कारण था कि प्राचीन काल में राज्य

संचालक-सम्राट तत्त्वदर्शी महापुरुषों के द्वारा उपदेश प्राप्त करते थे, वे जानते थे कि हमारी रजोगुणी बुद्धि के द्वारा जो कार्य होगा उसमें अवश्य भूल हो सकती है। यही कारण था कि उस समय महापुरुषों के आदेश के द्वारा राज्य का संचालन होने से प्रजा सुखी रहती थी।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम ने भी अपने पूर्वजों की परम्परा के अनुसार राज्याभिषेक के उपरान्त अपने कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ की आज्ञानुसार राज्य का संचालन किया। सब कुछ जानते हुए भी वे नित्य प्रति महर्षि वशिष्ठ से उपदेश प्राप्त करते थे। यह बात वन-गमन के पूर्व प्रसंग से विदित होती है।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीराम के दैवी गुणों की झलक

इन्द्र और कुबेर के ऐश्वर्य को मर्यादापुरुषोत्तम राम ने प्रजा के हित की दृष्टि से ठुकरा कर वन की यात्रा की—

पितु आयसु भूषन बसन, तात तजे रघुवीर।
बिस्मय हरष न हृदय कछु, पहिरे बलकल चीर॥

पिता का करुण-क्रन्दन, माता का विलाप तथा प्रजा का चीत्कार और हाहाकार उन कर्त्तव्यपरायण श्रीराम को उनके कर्त्तव्य पथ से विचलित न कर सका। वनों में जाकर दुर्धर्ष रावण के भय से संत्रस्त ऋषि और मुनियों के आश्रम में जा-जा कर उन्हें सान्त्वना दी और उनके सम्मुख प्रतिज्ञा की कि मैं यदि राम हूँ तो इस पृथ्वी को निश्चय ही निशिचर हीन कर दूँगा।

निसिचरहीन करौं महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्ह, जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

राक्षसों के द्वारा सताए हुए एकान्तवासी मुनियों की दीन-हीन दशा देखकर तथा नरभक्षी असुरों द्वारा तपस्वियों की अस्थियों का पर्वत जैसा ढेर देखकर राजीवलोचन श्रीराम के लोचनों से अविरल अश्रु धारा प्रवाहित होचली। प्रिय जन्म-भूमि को छोड़ने तथा रोती बिलखती प्रजा के आंसुओं की नदी जिन श्रीरामचन्द्र को विचलित न कर सकी, उन्हीं राम के आँसू इस बात के द्योतक हैं कि वे परदुख कातर थे। अपने सुख की उन्हें यदि लेशमात्र भी इच्छा होती तो युक्ति से इन समस्त प्रसंगों को परिवर्तित कर सकते थे किन्तु उन्हें तो जनता-जनार्दन की वास्तविक सेवा करनी थी। उनका दृष्टिकोण संकुचित नहीं वरन् व्यापक था। केवल प्रजावत्सलता ही नहीं, उनके विशाल हृदय में पितृ-भक्ति, गुरु-भक्ति, मातृ-भक्ति तथा भ्रातृवत्सलता आदि सद्गुण कूट-कूट कर भरे थे। महाराज दशरथ ने गुरु वशिष्ठ से परामर्श कर यह घोषणा की कि कल श्रीराम युवराज पद पर आसीन होंगे। इस सम्वाद को सुनकर समस्त प्रजा आनन्द विभोर हो गई। यह सम्वाद अपने सखा मंत्री-पुत्र से श्रीराम ने भी सुना, किन्तु इसे सुनकर उनका मन विषाद से भर गया। भ्रातृवत्सलता की लहरें उनके मनरूपी सागर में लहराने लगीं। वे विचारने लगे कि "एक ही साथ उत्पन्न होने वाले भाइयों में यह भेदभाव कैसा? केवल मेरा ही अधिकार क्यों? इस राज्य के तो चारों भाई समान रूप से अधिकारी हैं इस प्रकार की यह नीति हमारे वंश में अनुचित है:—

जनमे एक संग सब भाई।
भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनवेद उपवीत बिआहा।
संग-सग सब भए उछाहा॥
विमल वंस यह अनुचित एकू।
बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

कर्त्तव्य परायणता में वज्र जैसा कठोर हृदय भ्रातृवत्सलता में मोम जैसा कोमल निकला। मन को पवित्र करने वाला भगवान का यह विषाद हमें यह संदेश देता है कि क्षण-भंगुर, नाशवान् भोगों की अपेक्षा भ्रातृप्रेम अधिक आनन्द की वस्तु है। किसी भी इतिहास में ऐसा उज्वल उदाहरण दृष्टिगोचर नहीं होता। जिस राज्य की लिप्सा से पुत्र ने पिता को, भाई ने भाइयों को मौत के घाट उतार दिया वैसे सहस्रों राज्यों की अपेक्षा अत्यधिक श्रेष्ठ सार्वभौम राज्य को प्राप्त होने का सुअवसर पाकर भी श्रीराम की ऐसी विचारधारा बड़ी अनोखी सी जान पड़ती है। भले ही यह बात भौतिकवादियों को अनोखी सी जान पड़े किन्तु जगतगुरु भारतवर्ष की आध्यात्मिकता में ही ऐसा सर्वोच्च आदर्श सन्निहित है।

—:—

"भगवान श्रीराम के प्रजावात्सल्य की पराकाष्ठा"

१४ वर्षों के महान् कष्ट और संकटों को सहर्ष सहन कर प्रजा-वत्सल श्रीराम अपनी प्रतिज्ञा पूर्णकर जब अयोध्या लौटे तब समस्त प्रजा ने हर्षोन्मत्त होकर हृदय से अपने आराध्य देव का स्वागत किया।

श्रीराम और भरत के उस अपूर्व सम्मेलन तथा प्रजा के आनन्द का वर्णन वाणी अथवा लेखनी का विषय नहीं। आनन्द के उस महासागर में निमग्न जनता भगवान् श्रीराम को सिंहासनारूढ़ देख अपने मानव जीवन को सफल मानने लगी। शासन के सर्वांग पूर्ण सुप्रबन्ध से राष्ट्र सुव्यवस्थित था जिसका वर्णन पूर्व प्रसंग में आपने पढ़ा है। प्रजा को सब प्रकार से सम्पन्न और सुखी बनाकर भी श्रीराम राज्य-संचालन के नियमानुसार अपने गुप्तचरों द्वारा प्रजा की अन्तर्भावना का अध्ययन करते रहते थे।

एक समय की बात है कि रात्रि में वेष परिवर्तित भगवान श्री

राम का गुप्तचर घूम रहा था। रात्रि अन्तप्राय थी ब्राह्ममूहूर्त की मंद सुगन्ध समीर सब सुखी पुरुषों को नित्य कर्म में प्रवृत्त करने का आह्वान कर रही थी। उस समय कर्मकाण्डी ब्राह्मणों द्वारा की गई वेद-ध्वनि मनको पवित्र बनाती थी। मंदिरों में शंख घड़ियालों की दूरतः समागत ध्वनि मंगला आरती की सूचना देरही थी। उसी समय शूद्र जनों के एक मुहल्ले से गुप्तचर अपनी ड्यूटी समाप्त कर अपने निवास स्थान को जारहा था। सहसा उसके कानों में एक स्त्री के रोने का शब्द सुनाई पड़ा। उस शब्द को सुनकर वह गुप्तचर उसी दिशा की ओर चला और धोबी के घर के सामने पहुँच गया। उसने सुना " निकल जा कुलटा इस घर से, रात्रि भर घर के बाहर रही पापिनी ! तेरे पास इसका क्या प्रमाण है कि तेरा सतीत्व रक्षित है " क्रुद्ध होकर कर्कश वाणी में धोबी अपनी पत्नी से इस प्रकार कह रहा था। स्त्री ने रोते हुए कहा कि मेरी सखी ने रोक लिया था। आप निःसंदेह रहें मैं निर्दोष हूँ। कड़क कर धोबी बोला चुप रह दुष्टा ! क्या तूने मुझे भी राम समझ रक्खा है, जिन्होंने दीर्घकाल तक रावण के गृह रही हुई सीता को पुनः अपनी पत्नी माना। श्रीराम समर्थ हैं, सब कुछ कर सकते हैं, किन्तु मैं नीच जाति का व्यक्ति इसे सहन नहीं कर सकता। कल जब बिरादरी के लोग यह सुनेंगे कि मैंने रात्रि भर परघर में रहने वाली स्त्री को स्वीकार किया है तो मैं क्या मुँह दिखलाऊँगा।

गुप्तचर बड़े ध्यान से इस अप्रिय सम्वाद को सुनकर स्तब्ध सा विचार कर रहा था कि भगवान् श्रीराम के सम्बन्ध में ऐसी दुर्भावना करने का साहस इस नीच को क्योंकर हुआ ? जगज्जननी श्री जानकी जी का उज्वल चरित्र तो गंगाजल के समान पवित्र है। फिर इसका ऐसा कलुषित विचार कैसे बना ? वह स्वामिभक्त गुप्तचर इन्हीं विचारों में तल्लीन था फिर उसने सुना कि वह दुष्ट धोबी अपनी स्त्री को लात से पीटता हुआ बार-बार कह रहा है "कि मैं राम नहीं हूँ।" अभी इसी

क्षण मेरे घर से निकल जा। श्रीराम के प्रति किए गये ऐसे अपमान जनित शब्दों को सुनकर गुप्तचर अपने क्रोधावेश को न रोक सका।

उसने उस घर के भीतर घुसकर धोबी को संबोधित करते हुये चिल्लाकर कहा 'अपनी जिह्वा को बन्द कर पापी! अन्यथा उसे खींच-कर तेरी खाल में भुस भरवा दूंगा। दुष्ट! तेरा इतना साहस जो हमारे सर्वप्रिय सम्राट और सम्राज्ञी के सम्बन्ध में ऐसे कलुषित विचार प्रगट कर रहा है। क्या तू नहीं जानता कि पतिव्रता शिरोमणि मिथिलेश नन्दिनी की अग्नि-परीक्षा रावण विजय के पश्चात् समुद्र तट पर ही हो चुकी थी। धोबी ने सहमते हुये धीरे से कहा:-

"मैं नहीं जानता था कि आप छिपकर हमारी यह बात सुन रहे होंगे। अन्यथा मैं अपने आन्तरिक विचारों को प्रगट ही न करता।"

"इसका तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के मनोविचार तेरी तरह जनता में अन्य व्यक्तियों के भी होंगे—" क्रोध से गुप्तचर ने कहा। प्रत्युत्तर में धोबी बोला—आप रुष्ट न हों महाशय! भले ही कोई मुख पर कहने का साहस न करे क्योंकि यह सम्राट की बात है। किन्तु क्या यह सत्य नहीं? कि राजा राम ने अधिक काल तक रावण के यहाँ रही अपनी पत्नी श्री सीता को स्वीकार किया। पुनः ऐसा सुनते ही गुप्तचर को अत्यधिक क्रोध होगया। धोबी को झकझोरते हुये कहा कि मेरी इच्छा तो यही होती है कि इसी समय तेरी जीवन-लीला समाप्त करदूँ किन्तु तेरे जैसे कलुषित विचारों वाले नराधम जन को उचित शिक्षा देने के निमित्त राज दरबार के द्वारा दण्डित कराऊँगा। ऐसा कहकर उस धोबी को घसीटते हुये गुप्तचर भगवान् श्रीराम के राजमहल की ओर ले चला। पीछे-पीछे रोती और विनय करती धोबिन भी चली। उसने कहा महाशय! मेरे पति को छोड़ दीजिये।

धोबिन की बात को अनसुनी करता हुआ वह गुप्तचर राजमहल के द्वार तक पहुँच गया।

प्रातःकाल हो चुका था, भगवान् मरीचिमाली की स्वर्ण किरणें मन्दिरों के स्वर्ण कलशों पर चमक रही थीं। गुप्तचर ने प्रतिहारी से कहा:—मैं राज राजेश्वर का दर्शन करना चाहता हूँ।

"राजराजेश्वर इस समय सत्संग में विराजमान हैं आप को कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।"

सत्संग की समाप्ति की सूचना पाकर प्रतिहारी ने भगवान् श्रीराम को गुप्तचर का सन्देश दिया। और उनका आदेश पाकर गुप्तचर प्रविष्ट हुआ।

उस समय भुवन-मनोहर श्रीराम उत्तरीय पीताम्बर धारण किये प्रसन्न मुख मुद्रा में विराजमान थे। एकान्त देख पृथ्वी में मस्तक टेक गुप्तचर ने कहा राजराजेश्वर की जय हो।

"कहो क्या समाचार है, मेरी प्रजा पूर्णतः सुखी तो है और तुम्हारे पीछे यह पुरुष और महिला कौन है? आज मैं तुम्हारा मुख मलिन क्यों देख रहा हूँ? गुप्तचर ने नतमस्तक हो आद्योपान्त समस्त घटना भगवान् को सुनाई जिसे सुनकर भगवान कुछ विचारमग्न हुए कुछ क्षणों तक मौन रहकर धोबी से कहा भाई! तुम भयभीत न हो? सहर्ष अपने घर को लौट जाओ किन्तु यदि तुम अपनी पत्नी को अंगीकार न करोगे तो तुम्हे जाने की आज्ञा न मिलेगी और कल की लोक सभा में तुम्हारा उपस्थित होना अत्यावश्यक है।

धोबी अपनी खैर मनाता हुआ प्रणाम कर अपनी पत्नी सहित प्रणाम कर शीघ्रता से चल दिया।

एकान्त में विचारमग्न श्रीराम ने लक्ष्मण जी को बुलाकर कहा—भैया कल विशेष रूप से घोषणा करा दो कि लोक सभा का

आयोजन हो जिसमें समस्त प्रजाजन एकत्रित हों। दूसरे दिन लोक सभा का अयोजन हुआ। उसमें समस्त अयोध्यावासी सम्मिलित हुये। धोबी भी आया। महर्षि वशिष्ठ स्वर्ण जटित सिंहासन पर विराजमान थे। सर्व प्रथम मर्य्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने खड़े होकर विगत रात्रि की समस्त घटना गम्भीर स्वर से कह सुनाई। सबने स्तब्ध होकर इस अप्रत्याशित घटना को सुना। अपना कथन समाप्त करने के पश्चात् भगवान् श्रीराम ने धोबी को आदेश दिया कि तुम निर्भय हो इस लोक-सभा में अपने मनोगत विचारों को प्रकट कर सकते हो।

अभय दान पाकर धोबी करबद्ध हो सभा में खड़ा हुआ उसने कहा:—

धर्मावतार आप यदि आज्ञा देते हैं तो मैं अपने विचार प्रकट करता हूँ।

महाराज बड़े लोग भला अथवा बुरा जो कुछ भी कहें उन्हीं को शोभा देता है। किन्तु छोटी जाति के लोगों पर तनिक सी बात में उगँली उठाई जाती है। कल रात्रि को मेरी स्त्री बिना आज्ञा जाति के किसी घर में चली गई और रात्रि के तीसरे पहर में लौटी। उसका दुस्साहस देख मैंने ताड़ना दी तथा यह भी कहा मैं नीच जाति में उत्पन्न हुआ हूँ। साथ ही दुर्भाग्य से यह शब्द निकल गया कि मैं राम नहीं जो अति काल तक रावण के घर रही सीता को स्वीकार कर लिया। महाराज मेरा यह अपराध क्षमा किया जाय। इतना कह कर धोबी बैठ गया।

श्रीराम ने कहा—प्रजा का प्रत्येक नागरिक अपने विचार प्रकट करने में स्वतन्त्र है। इस सभा में उपस्थित समस्त जनों से मेरा निवेदन है कि इस सम्बन्ध में जिसकी जैसी सम्मति हो निःसंकोच होकर प्रकट करे।

श्रीराम की इस गम्भीर घोषणा से सभा में निस्तब्धता छा गई। कोई भी व्यक्ति कुछ कहने का साहस न कर सका।

पुनः श्रीराम ने कहाः—

आप सबका मौन यह सूचित करता है कि मैंने सीता को ग्रहण करने में भूल की है। प्रजा का सेवक होने के नाते मेरा कर्त्तव्य है कि प्रजा की भावना के अनुसार आचरण करूँ। महाराज के इस कथन से कुछ हलचल मची। राज प्रमुख व्यक्तियों में काना फूसी होने लगी कि महारानी सीता पतिव्रता शिरोमणि हैं, उनके सम्बन्ध में अनर्गल बातें करने वाले का वध कर देना चाहिये। इस प्रकार के विचार कतिपय महानुभावों ने प्रकट भी किए। किन्तु प्रजा को सन्तानवत् मानने वाले श्रीराम ने उस ओर ध्यान न देकर कहा मैं शीघ्र ही इस भूल को सुधारने का प्रयत्न करूँगा। ऐसा कहकर वे द्रुतगति से अन्तःपुर की ओर चले गये। महर्षि वशिष्ठ अब तक मौन थे श्रीराम के चले जाने के पश्चात् मेघगर्जन के सदृश्य बोले—प्रजाजनों जिस राम ने तुम्हारे लिये सर्वस्व बलिदान कर दिया, १४ वर्षों तक महान संकटों को भाई तथा प्रियतमा के साथ हँसते हुये सहन किया। पतिव्रताओं में अग्रगण्या जानकी की अग्नि-परीक्षा लाखों व्यक्तियों के समक्ष समुद्र तट पर हुई। क्या उन्हीं प्रिय राम तथा राजेश्वरी सीता को दोष लगाते हो। गुरु वशिष्ठ के कहने पर भी सभा में सन्नाटा छाया रहा।

यथासमय सभा विसर्जित हुई। प्रातःकाल लक्ष्मण को बुलाकर श्रीराम ने कहा भैयाः—

कल तुमने प्रजा के मनोगत विचारों को सुना मैंने भी रात्रि में इसी विषय का चिन्तन किया, अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि प्रजा के भाव की रक्षा करने में हमें अपना सर्वस्व बलिदान कर देना होगा। अतएव तुम अपनी भाभी को महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में जाकर छोड़ आओ।

भगवान् के ऐसे हृदय वेधी शब्द सुनकर लक्ष्मण जी स्तब्ध रह गए उन्होंने कहा:—

भैया क्या प्रजा की उचित और अनुचित प्रत्येक भावना की रक्षा के लिये ही रामराज्य की स्थापना हुई है ? क्या सम्राट को इतना भी अधिकार नहीं कि वह अपने गार्हस्थ्य जीवन को सुख शान्ति पूर्वक व्यतीत कर सके ? प्रजा के एक नीच जन के कहने से क्या हमारी भाभी के उज्वल चरित्र में कालिमा लग सकती है ? मैं तो ऐसी नीच भावना वाले प्रजा जनों को दण्ड के योग्य समझता हूँ।

"भैया लक्ष्मण तुम्हारी यह विचारधारा एक आदर्श राज्य संचालक के अनुकूल नहीं पड़ेगी। तुम तो जानते हो कि मैंने प्रजा पालन का जो व्रत लिया है उसकी सफलता के लिये हम सब कुछ बलिदान कर सकते हैं। अतएव मैं इसी निश्चय पर पहुँचा हूँ कि तुम जानकी को तपोवन में छोड़ आओ।

लक्ष्मण ने नतमस्तक होकर कहा—मैं इस कठोर आज्ञा का पालन करने का साहस अपने मन नहीं पा रहा हूँ।

लक्ष्मण तुम्हे इस आज्ञा का पालन करना ही होगा।

यह आज्ञा भ्राता राम की नहीं वरन् राजा राम की आज्ञा है।

लक्ष्मण जी मौन हो धीरे धीरे चले गये। अन्ततोगत्वा राजमहिषी सीता जी वनों के अपार कष्टों को सहन करने के बाद राजमहल में सुख पूर्वक रहने लगी थीं वे समस्त राज्य की आराध्य देवी के समान पूज्य थी। वह पतिव्रता शिरोमणि श्री लक्ष्मण द्वारा वाल्मीकि के आश्रम में भेजी गईं।

दूसरे दिन समस्त अयोध्या वासियों ने इस दुखद समाचार को सुना उन्होंने अनुभव किया कि यह दुस्तर कार्य युगावतार श्रीराम के ही योग्य है। अपार श्रद्धा की भावना से इनके मस्तक नत हो गये।

तथा श्री सीताजी के सम्बन्ध में जिन कतिपय जनों के मन में कलुषित भावना थी वे हार्दिक पश्चाताप द्वारा कालिमा धोने लगे। सीता जी के इस परित्याग में अनेक रहस्य हैं। विचार करने पर आप इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे राजा के त्याग और तप का प्रभाव जनता पर तत्क्षण व्यापक रूप से पड़ता है। उसी आदर्श को सामने रखकर प्रजा अपने जीवन को ढालने लगती है।

"रामराज्य में सत्संग का व्यापक प्रचार"

प्रातकाल उठि के रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
प्रातकाल सरयू करि मज्जन। बैठहिं सभा संत गुरु सज्जन॥
वेद पुराण वसिष्ठ बखानहि। सुनहि राम यद्यपि सब जानहि॥

बाल्यावस्था से ही भगवान् श्रीराम अपने भाइयों सहित नित्य-प्रति ब्राह्ममुहूर्त में महर्षि वसिष्ठ का सत्संग किया करते थे और तदनुसार चलते थे। जिस दिन महर्षि वसिष्ठ किसी विशेष कार्यवश सत्संग में नहीं उपस्थित हो सकते थे, उस दिन स्वयं भगवान् राम अपने भाइयों को नीति और धर्म की शिक्षा दिया करते थे। इस प्रकार दैनिक सबकी बुद्धि का परिमार्जन होजाता था। उसी सत्संग का प्रभाव था कि चारों भाइयों ने इस प्रकार अपना त्यागमय जीवन बनाकर जनता-जनार्दन की वास्तविक सेवा की।

चौदह वर्षों की महान् विपत्तियों को सहन करते हुए राक्षसों का संहार करके जब भगवान् अयोध्या लौटकर शासनारूढ़ हुए तब प्रजा के हर्ष का पारावार न रहा। भगवान् सदैव विचार करते रहते थे कि प्रजा किस प्रकार से सुखी हो सकती है। अतएव उन्होंने एकबार समस्त प्रजा को एकत्र कर अपने विचार प्रकट किये जिसका वर्णन पूर्व प्रसंग में आ ही चुका है। उन उपदेशों को श्रवण कर समस्त जनता

मंत्र मुग्ध सी होकर श्रीराम का जयजयकार करने लगी। उसने कहा कि हमारी सच्ची हितकामना तो आपके उपदेशों में ही अन्तर्हित है। यह लोक तथा परलोक को सुखी बनाने के निमित्त आपका कल्याण-कारी उपदेश हमारा पथ-प्रदर्शक है। सभी जनता आनन्द की मस्ती में झूम उठी और उसने भगवान् के श्री चरणों में प्रणाम करते हुए कहा:—

सुनत सुधासम वचन राम के। गहे सबनि पद कृपाधाम के॥
जननिजनक गुरु बन्धु हमारे। कृपानिधान प्रान ते प्यारे॥
तनु धनु धाम राम हितकारी। सब विधि तुम्ह प्रणतारतिहारी॥
असि सिख तुम्ह विनु देइ न कोऊ। मातु पिता स्वारथ रत ओऊ॥
हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुं कोउ परमारथ नाहीं॥

भगवान् श्रीराम के आचरण तथा अमृतमय उपदेशों का प्रभाव विद्युत गति से समस्त जनता पर इस प्रकार पड़ा कि वह पूर्ण रूप से अपने मन और इन्द्रियों का दमन करते हुए शास्त्रानुमोदित कर्त्तव्य में संलग्न हो गई।

भगवान् श्रीराम की शिक्षा तथा आचरण से प्रभावित होकर समस्त नर नारियों ने सत्संग के मूल मन्त्र को अपना लिया था। प्रत्येक सद्गृहस्थ के घर में नित्य ही सत्संग हुआ करता था। रामायण के उत्तरकाण्ड में यह बात सूत्र रूप से विदित होती है।

सब के घर घर होहिं पुराना। सब नर करहि राम गुन गाना॥

सत्संग की महिमा का वर्णन लेखनी अथवा वाणी द्वारा किस प्रकार किया जा सकता है। इसका आश्रय लेने वाले स्वयं तो भवसागर से पार होते ही हैं, अपने साथ अनेकों को पार कर देते हैं। आध्यात्मिक अथवा राजनैतिक किसी भी दृष्टि से यदि आप विचार करें तो

आपको विदित होगा कि इस धरती पर जितने भी महापुरुष हुए अथवा जिन्होंने देश को उन्नति की सीमा पर पहुँचाया और जिनकी प्रशंसा के गीत लिखकर कवियों ने अपनी लेखनी को सफल किया, उन सभी का चरित्र निर्माण सत्संग के द्वारा ही हुआ। बहुत प्राचीन इतिहास को न देखकर इस वर्तमान युग में एक ज्वलन्त उदाहरण आपके समक्ष विश्ववन्द्य महात्मा गान्धी का ही है। वे नियम से नित्यप्रति प्रातःकाल तथा सायंकाल सत्संग किया करते थे। उसी सत्संग का प्रभाव उन्हें ऐसी उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा सका। समस्त भूमण्डल में उनके जीवन काल में ही उनकी पूजा होने लगी। एकबार किसी स्थान पर नियमानुसार उनका सत्संग हो रहा था। तब किसी भौतिकवादी आध्यात्म विमुख अप्टूडेट नवयुवक ने उनसे प्रश्न किया कि महात्मा जी! इस समय देश की समस्या बहुत उलझी हुई है और आप यह आधा पौन घण्टा व्यर्थ ही प्रार्थना और सत्संग में नष्ट कर देते हैं, इससे क्या लाभ? इस बहुमूल्य समय को यदि आप देश की उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने में लगावें तो अधिक अच्छा हो। यह प्रश्नकर्त्ता महाशय किसी कालेज के प्रोफेसर थे। महात्मा जी ने कहा कि आपको भोजन करने में कितना समय लगता है? उन्होंने उत्तर दिया कि दोनों समय लगाकर लगभग एक घण्टा तो लगता होगा। इस पर हँसते हुए महात्मा जी ने कहा कि आप व्यर्थ ही यह एक घण्टा नष्ट कर देते हैं। इतने समय में कोई ट्यूशन कर लीजिये तो आपकी आमदनी बढ़ सकती है। वे महाशय बोले कि भोजन के बिना शरीर कैसे रह सकता है. जीवन के लिये तो भोजन एक आवश्यक वस्तु है। गान्धी जी ने कहा कि जिस प्रकार आपके लिये भोजन आवश्यक वस्तु है, आप भोजन के बिना नहीं रह सकते, इसी प्रकार प्रार्थना और सत्संग मेरे लिये अत्यन्त आवश्यक वस्तुयें हैं। यह मेरा मानसिक भोजन है, मैं दो चार दिन भोजन बिना रह सकता हूँ, किन्तु प्रार्थना किये बिना एक दिन भी नहीं रह

सकता। मैं यदि इससे विमुख रहूँ तो देश की जैसी सेवा कर रहा हूँ वैसी कदाचित न कर पाऊँ।

जिस प्रकार एक नाई हजामत बनाने से पहले अपने उस्तरे पर सिल्ली द्वारा धार तेज कर लेता है और उसके पश्चात् हजामत बनाता है, ठीक इसी प्रकार नित्यप्रति सत्संग के द्वारा बुद्धि का परिमार्जन हो जाता है। अर्थात विवेक की वृद्धि होती है। विवेक सहित जो कार्य किया जाता है, उसमें अवश्य ही सफलता मिलती है। परमार्थ साधन के साथ ही साथ व्यवहार कुशलता भी सत्संग के द्वारा ही होनी सम्भव है। नाई यदि अपने उस्तरे पर हजामत बनाने के पूर्व धार न लगावे तो हजामत के बनाने में स्वयं उसे तथा बनवाने वाले को कष्ट होता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति सत्संग से विमुख रहते हैं वे परमार्थ कुशल न होने के कारण साधारण सा संकट पड़ने पर ही विचलित होकर सत्यमार्ग से विमुख होजाते हैं और इस प्रकार स्वयं ही अपने पतन का कारण बन जाते हैं। सत्संग की अमोघ शक्ति का वर्णन जितना भी किया जाय उतना कम समझिये। सत्संग महिमा के सम्बन्ध में एक बहुत सुन्दर उदाहरण एक उपाख्यान से मिलता है। एक बार महर्षि वशिष्ठ विश्वामित्र से मिलने के लिये उनके आश्रम पर पधारे। विश्वामित्र ने उनका हृदय से सत्कार किया। यह नियम है कि चलते समय अतिथि को बहुमूल्य वस्तु भेंट करनी चाहिये। ऐसा विचार कर विश्वा-मित्र जी ने अपनी सहस्त्र वर्ष की तपस्या का फल संकल्प द्वारा वशिष्ठ जी को भेंट किया। कुछ काल बीतने के पश्चात् एक बार विश्वामित्र जी महर्षि वशिष्ठ के अतिथि बने। बड़ी आवभगत के पश्चात् जब वे चलने लगे, तो नियमानुसार वशिष्ठ जी ने संकल्प के द्वारा स्वप्न में किये हुए ढाई घड़ी के सत्संग का फल विश्वामित्र जी को प्रदान किया। वशिष्ठ जी का ऐसा व्यवहार देखकर महर्षि बड़े क्षुब्ध हुये। वे मन ही मन कहने लगे कि देखो तो भला। मैंने तो इन्हें अपनी पचास सहस्त्र वर्ष की तपस्या का फल भेंट किया था, किन्तु ये तो परले सिरे के

यज्ञ से निकले, सत्संग का फल भेंट कर रहे हैं वह भी केवल ढाई घड़ी का और उस पर तुर्रा यह कि स्वप्न में किये हुए सत्संग का। विश्वामित्र जी के मनोगत विचारों को वशिष्ठ जी समझ गए, किन्तु वे कुछ बोले नहीं। विश्वामित्र जी अपने विचारों को अधिक समय तक न दबा सके और अन्त में उन्हें क्रोध आ ही गया। उन्होंने किंचित रोष के स्वर में कहा—महात्मन्! यह कैसी हँसी-दिल्लगी है, आप जैसे महापुरुष को ऐसा हास्य शोभा नहीं देता। महर्षि वशिष्ठ बोले—भगवन्! आप रुष्ट न हों, आप का सन्देह निराधार है। आप जैसे पूज्य अतिथि के प्रति भला क्या मैं हास्य करने का दुस्साहस कर सकता हूँ? इस पर कुछ नम्र होकर विश्वामित्र जी बोले "तब फिर यह स्वप्न में किये हुए ढाई घड़ी के सत्संग का क्या अर्थ" वशिष्ठ जी ने कहा "अच्छा हो, यदि आप अपने संशय का निर्णय किसी ऐसे व्यक्ति के द्वारा करा लें जिस पर आपका विश्वास हो।" अन्त में इस समस्या पर अधिक वादविवाद न कर दोनों महर्षि, भगवान् विष्णु के पास पहुँचे। और अपने विवाद का निपटारा करने के लिये उनसे सब निवेदन किया। भगवान् विष्णु ने कहा कि आप लोग पितामह ब्रह्मा के समीप यदि जायं तो अत्युत्तम होगा। वे इस समस्या को मेरी अपेक्षा सुगमता से सुलझा सकेंगे। दोनों महापुरुष ब्रह्मा जी के पास पहुँचे। ब्रह्मा जी ने कहा भइया! मैं इस समय सृष्टि निर्माण के कार्य में इतना व्यस्त हूँ कि मुझे एक क्षण का भी अवकाश नहीं, अच्छा हो यदि आप लोग भगवान् शंकर के पास जावें। वे प्रत्येक समय समाधिस्थ बैठे रहते हैं, उन्हें कोई विशेष कार्य भी नहीं रहता। ब्रह्मा जी से ऐसा उत्तर पाकर दोनों ऋषि, कैलाश पर्वत के हिमाच्छादित उत्तुङ्ग शैल शिखर पर पहुँचे। आशुतोष भगवान् श्री शंकर प्रार्थना करने पर प्रकट हुए, तब उन्होंने इस नवीन समस्याको सुनकर विचार किया कि भगवान् विष्णु और ब्रह्मा जी ने किसी विशेष कारण से इस बला को अपने सर से टाला। अतएव भूतभावन भोलानाथ भी कब

चूकने वाले थे—उन्होंने चट से कहा कि आप शेषनारायण जी के पास चले जावें वे इस प्रश्न का निपटारा करने में अति चतुर जान पड़ते हैं। हाँ एक बात ध्यान में रखियेगा कि आप लोगों का जो निर्णय हो उसकी सूचना हम लोगों को भी दे दीजियेगा। अन्ततोगत्वा इस विवाद का अन्तिम निर्णय प्राप्त करने के हेतु दोनों महामुनि भगवान् श्री शेषनारायण के दरबार में पहुँचे और उनकी सेवा में अपने आने का कारण निवेदन किया। शेष भगवान् बोले भाई समस्या तो बहुत महत्वपूर्ण है, परन्तु आप लोग इतना कष्ट करके पधारे हैं तो मेरा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं आपकी सेवा अवश्य करूँ। किन्तु मेरे सिर पर पृथ्वीका इतना भार है कि इस समस्या पर सूक्ष्म विचार करनेके लिये कुछ क्षण विश्राम करने की अत्यन्त आवश्यकता है। कोई सज्जन थोड़ी देर के लिये पृथ्वी का भार सँभाल लें तो मैं विचार कर आपके विवाद के सम्बन्ध में अपना निर्णय दे सकता हूँ। राजर्षि से ब्रह्मर्षि की पदवी प्राप्त करने वाले विश्वामित्र जी को अपनी तपस्या पर बड़ा अभिमान था। कुछ क्षण तक उन्होंने विचार किया कि मैंने पूरे एक लाख वर्षों तक तपस्या की है क्या मैं अपनी तपस्या के बल से इस पृथ्वी का भार नहीं उठा सकता ? वे कुछ अभिमान के स्वर में बोले, कि—अच्छी बात है—भगवान्! आप जितनी देर चाहें विश्राम करलें, तब तक मैं पृथ्वी को अपने सिर पर उठाये रहूँगा। शेषनारायण जी ने पृथ्वी को अपने सर से हटाते हुए विश्वामित्र जी के सर पर रक्खा, उस समय विश्वामित्र जी ने यह संकल्प किया कि मेरी पचास सहस्र वर्षोंकी तपस्या के फलस्वरूप पृथ्वी मेरे सर पर रुकी रहे, किन्तु पूरा एक क्षण भी व्यतीत न होने पाया था कि विश्वामित्रजी बोले कि अरे! अरे!! मेरा कचूमर ही निकल जायेगा, पृथ्वी का भार संभालना मेरी शक्ति के बाहर जान पड़ता है अतः आप शीघ्र इसे सँभालिये। भगवान् शेषनारायण ने पुनः पृथ्वी का भार सँभालते हुए कहा कि ऐसी परिस्थिति में समस्या का समाधान करना अत्यन्त कठिन है। फिर

वशिष्ठ जी की ओर देखकर बोले कि आप ही इसका भार सँभालने का प्रयत्न करें। वशिष्ठ जी ने कहा—जैसी आपकी आज्ञा। तत्काल ही वशिष्ठ जी ने संकल्प किया कि स्वप्न के जिस सत्संग का फल मैंने विश्वामित्र जी को दिया है, उसके आधे शेष बचे हुये सत्संग के फलस्वरूप यह पृथ्वी मेरे ऊपर टिकी रहे। आश्चर्य चकित विश्वामित्र ने देखा कि महर्षि वशिष्ठ ने उस पृथ्वी को गेंद के समान अपने मस्तक पर उठा लिया, वे अवाक् रह गये। शेष भगवान् बोले कि मैं शीघ्र ही आपको अपने निर्णय की सूचना देता हूँ। विश्वामित्र ने विचार किया कि अब निर्णय होने में शेष ही क्या रहा। कुछ देर तक मौन रहने के पश्चात् भगवान् शेषनारायण ने विश्वामित्र जी से कहा कि आप स्वयं विद्वान् और बुद्धिमान् हैं, निर्णय का परिणाम तो आप स्वयं ही निकाल चुके होंगे, तब फिर मेरे कुछ कहने की क्या आवश्यकता ? विश्वामित्र भी निरुत्तर हो गये और सत्संग की महिमा को हृदयसे स्वीकार कर लिया। उपरोक्त उदाहरण से भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि सत्संग में वह महान् शक्ति अन्तर्हित है जिसके प्रभाव से महान् से महान् कार्य सुगम रीति से सम्पन्न हो सकता है।

कविकुल चूड़ामणि पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदास जी ने सत्संग की महिमा का जो वर्णन श्रीरामचरितमानस में किया है, इस स्थल पर उसको उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगाः—

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहुँ वेद न आन उपाऊ॥
बिनु सत्संग विवेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥
सतसंगति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥
सठ सुधरहिं सत्संगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥
विधि बस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥
विधि हरि हर कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥

दुर्दान्त डाकू से महर्षि बना देने की क्षमता इस सत्संग में ही है। रत्नाकर पहले डाकू वृत्ति से अपनी आजीविका चलाते थे। नित्य ही उनके हाथों द्वारा नर-संहार हुआ करता था किन्तु नारद जी के सत्संग से उनकी मति का ऐसा विलक्षण परिवर्तन हुआ कि वे ब्रह्म के समान पदवी को प्राप्त हुए। सत्संग के प्रभाव से ही अधम कहे जाने वाले निषादराज को मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्री रामचन्द्र जी ने हृदय से लगाया जिसे स्पर्श कर स्नान करने का विधान अपने शास्त्रों में बताया गया है, वही निषाद भगवान् राम के सत्संग से इतना ऊँचा उठ गया कि उसकी कीर्ति-पताका दिगदिगन्त में फहराने लगी। भावुक पाठक तो निषादराज केवट के प्रसंग का पाठ, (श्री राम चरित्र मानस से) करने से ही आत्म-विभोर तथा गद्गद् हो जाते हैं। जिस समय प्रातः स्मरणीय श्री भरतलाल जी अपने पूज्य अग्रज भगवान् श्रीराम से मिलने चित्रकूट जा रहे थे तब वशिष्ठजी को निषाद-राज ने पृथ्वी पर लोट कर दूर से ही साष्टांग प्रणाम किया था। वह जानता था कि ये भगवान् के कुलगुरु हैं। तथा इस युग में संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं। उसे भय हो रहा था कि कहीं इनका स्पर्श करने से शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन न होजाय इसीलिये उसने दूर से प्रणाम किया था। महर्षि वशिष्ठ तो श्री सुमन्त जी के द्वारा केवट का प्रसंग आद्योपान्त सुन चुके थे तभी से उनके विशाल हृदय में केवट का स्थान सुरक्षित हो चुका था। महर्षि ने केवट को दूर से ही प्रणाम करते देख दौड़कर उसे अपने करकमलों द्वारा उठाकर हृदय से इस प्रकार लगा लिया जैसे वे लखनलाल को ही आलिंगन कर रहे हों:—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू।
कीन्ह दूरि ते दण्ड प्रनामू॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा।
जनु महि लुठत सनेह समेटा॥

एहि सम निपट नीच कोइ नाहीं।
बड़ वशिष्ठ सम को जग माहीं॥

जेहि लखि लखनहु ते अधिक, मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ॥

निषाद तथा महर्षि वसिष्ठ के इस अपूर्व सम्मिलन को देखकर देवता भी आश्चर्य चकित रह गए। उन्होंने निषाद के भाग्य की मुक्त कण्ठ से सराहना की। पतित को पावन, नीच को ऊँच बना देने की महान शक्ति सत्संग में ही अन्तर्हित है।

महाभागा भगवती शबरी तथा गीधराज जटायु के प्रसङ्ग से आप को विदित होता है कि सत्सङ्ग के प्रभाव से अधम से अधम प्राणियों को भी वह गति प्राप्त हो सकती है जिसे प्राप्त करने में जन्म जन्मान्तर की साधना निष्फल हो जाती है। मदान्ध रावण तथा बलशाली बाली के भय से सन्त्रस्त भक्तराज विभीषण और सुग्रीव की गाथा से शिक्षा मिलती है कि सज्जनों का आश्रय पाकर बिगड़ी हुई बात कितनी सरलता से बन सकती है। विभीषण के अन्तकरण में यदि दैवी गुणों का समावेश न होता और वह अपने भाई रावण के समान ही आचरण करते तो वे उत्कर्ष की इस सीमा तक कदापि नहीं पहुंचते। दैवी गुणों की धारणा अथवा सत्सङ्ग प्राप्ति में यदि किसी प्रकार की बाधायें अपने सम्मुख आवें तो अपने भविष्य अर्थात् परलोक सुधार के विचार से उनकी रंचक मात्र परवाह नहीं करनी चाहिए। चाहे अपने मार्ग का बाधक सहोदर भाई ही क्यों न हो। प्रथम तो विभीषण के समान अपने कुटुम्बी जन अथवा भाइयों को उचित मार्ग पर लाने का परामर्श देना अपना कर्त्तव्य है किन्तु यदि वे परामर्श के अनुसार सत्य मार्ग का अनुसरण न करें और उसका विरोध करें तो उनका परित्याग करने में अपनी भलाई जान उनसे सम्बन्ध विच्छेद करना ही श्रेयस्कर है। इस सम्बन्ध में पूज्यपाद गोस्वामी जी ने एक अति सुन्दर पद लिखा है:—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद विभीषन, बन्धु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कन्त ब्रज बनितन्ह, भये मुद मंगलकारी॥
नाते नेह राम सों मनियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटैं, बहुतक कहाँ कहाँ लौं॥

तात्पर्य यह कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति में जो बाधायें आकर उपस्थित हों उनकी तनिक भी चिन्ता न करते हुए अपने लक्ष्य की ओर अबाधगति से बढ़ते जाना सच्चे शूरवीर का काम है। यदि उन बाधाओं के जाल में फँस गये तो वह जाल ऐसा जकड़ लेगा कि फिर उन्नति का मार्ग सदैव के लिये अवरुद्ध हो जायगा और तब यह देवदुर्लभ मानव जीवन वरदान के स्थान पर अभिशाप बन जायगा। अर्थात् अनन्तकाल से चौरासी लक्ष योनियों के दुखद-प्रवाह में भ्रमित जीव को करुणा वरुणालय जगदीश्वर की असीम अहैतुकी अनुकम्पा से यह मनुष्य शरीर मिलता है, इसे पाकर यदि इसका सदुपयोग न हुआ तो पुनः उसी चक्र में अनन्तकाल तक दुख भोगना पड़ेगा।

कबहुँक करि करुणा नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक संवारा।

दो० जो न तरइ भवसागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिन्दक मन्दमति, आतमहनि गति जाइ॥

जिस व्यक्ति पर एक हत्या का अपराध प्रमाणित हो जाता है तब उसकी नींद और भूख नष्ट हो जाती है। प्रतिक्षण वह अपनी मृत्यु की बाट देखता हुआ फाँसी के फंदे को स्वप्न में देखकर भी सिहर उठता है इस परिस्थिति में संसार का कोई भी ऐश्वर्य और वैभव उसे चिन्ता

से मुक्त नहीं कर सकता। अहर्निश उसे यही चिन्ता रहती है कि येन केन प्रकारेण मेरे प्राण बच जावें। यह तो केवल एक ही मृत्यु की बात है किन्तु यदि नर-शरीर पाकर अपने ऊपर लगे हुए चौरासी लाख योनियों के मुकदमों का फैसला न कर लिया तो 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं'' के सिद्धान्तानुसार वे अपार कष्ट भोगने ही पड़ेंगे, जिनकी कल्पना से मानव का हृदय भय से काँप उठता है।

यह स्त्री, पुत्र, धन, वैभव, महल, अटारी, राज्य कोष आदि सभी कुछ एक दिन निश्चय ही हमसे छीन लिया जावेगा। यदि इन सभी वस्तुओं में हमारा राग है तो हम चौरासी लाख के चक्कर में पड़े हुए हैं यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिये। किसी भी वस्तु का ममत्व या मोह हमारे मनमें है तो यह पापी मन अवश्य ही इस तमसावृत गहन कूप में पटकेगा, जहाँ से निस्तार होना इस जीवन के पश्चात् असम्भव हो जावेगा। यदि पशुओं के समान आहार निद्रा आदि अवगुणों ही में अपना समय खोते रहे तो फिर भला भगवान् यह मानव शरीर इस अकृतज्ञ जीव को क्यों प्रदान करेंगे। क्योंकि जिस कार्य के लिये भगवान् ने जीव को मनुष्य योनि प्रदान की थी यदि उसके द्वारा उस कार्य का सम्पादन सुचारु रूप से न हुआ तो उचित न्याय के अनुसार उस जीव को दण्ड का भागी होना आवश्यक है और वह दण्ड पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि नीच योनियों में जाकर ही पूरा होगा।

"आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः धर्मेणहीनाः पशुभि समाना॥

अर्थात् भोजन, शयन, भय और विषय-भोग यह बातें पशुओं और मनुष्यों में समान हैं परन्तु धर्म ही मनुष्य में एक विशेष वस्तु है। धर्म के अभाव में मनुष्य पशु के समान है।

इस वास्तविक धर्म की प्राप्ति के लिये मनुष्य को सत्संग का आश्रय लेना प्रमुख कर्त्तव्य समझना चाहिये। सत्संग के अभाव से अन्तःकरण की सद्वृत्तियों का जागृत होना नितान्त असम्भव है। और विवेक के बिना मनुष्य न तो जीवन में सफलता प्राप्त कर सकता है और न परलोक ही संभाल सकता है। अर्थात बिना विवेक के स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही बिगड़ जायँगे।

बिनु सत्सङ्ग विवेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

राम की कृपा तो हो गई कि देवदुर्लभ यह मानव शरीर मिल गया अब अपनी कृपा की आवश्यकता है। क्योंकि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है अतएव इस शरीर रूपी क्षेत्र में वह जैसे बीजों का बीजारोपण करेगा। भविष्य में वैसा ही फल प्राप्त करेगा।

कर्म प्रधान विश्व रचि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

अस्तु जो बीत गई सो बीत गई अब आगे का सुधार करने के लिये अपने मन को बरबस सत्संग की ओर अविलम्ब लगा देना ही बुद्धिमानी की बात है। यदि आज का काम कल पर छोड़ दिया तो यह परले सिरे की मूर्खता है। किसी उर्दू के कवि ने सचेत करने के लिये कितने चुभते हुए शब्दों में लिखा है:—

आगाह अपनी मौत से कोई बशर नहीं।
सामान सौ बरस का पल की खबर नहीं॥

न जाने किस क्षण शरीर यह कराल-काल के गाल में कवलित होकर नष्ट हो जायगा। अतएव पहले से ही सावधान रहना बुद्धिमानी की बात है। सत्सगंके द्वारा यदि हमारी स्थिरमाजित बुद्धि बन गई तो फिर इस नश्वर शरीर को छोड़ने में तनिक भी कष्ट न होगा। महाराज परीक्षित का उदाहरण सिद्ध करता है कि एक सप्ताह पूर्व ही जब उन्हें तक्षक द्वारा डसे जाने का समाचार मिला तो वे भयभीत न होकर

अवधूत शिरोमणि श्री शुकदेव मुनि की शरण ग्रहण कर तथा सत्संग का आश्रय ले अनायास इस दुस्तर भवसागर से पार हो गये। सत्संग के ही प्रभाव से उनकी यह भावना दृढ़ हो सकी।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

इस धारणा को दृढ़ बनाने में सत्संग ही मुख्य है। भौतिकवाद के चकाचौंध से चमत्कृत विषयासक्त पुरुष कदापि ऐसा अनुभव नहीं कर सकता। प्राचीन काल की उज्ज्वल आदर्श गाथायें प्रमाणित करती हैं कि उस समय गर्भाधान से ही अध्यात्मवाद की शिक्षा प्रारम्भ होजाती थी। यही कारण था कि यह देश सदैव अध्यात्म प्रधान देश रहा। इसने सदैव भौतिकता को पैरों से ठुकराया। बालक ध्रुव और प्रह्लाद की अमर गाथाएँ इस बात की साक्षी हैं।

राम-राज्य के संस्थापन में अध्यात्मवाद ही मूल कारण था। बाल्यावस्था से ही गुरु वशिष्ठ के आश्रम पर रहकर चारो भाइयों ने आध्यात्मिक और भौतिक शिक्षा प्राप्त की। जिसके प्रभाव से महान ऐश्वर्य और भोगों को तृणवत् त्याग कर वे जनता की वास्तविक सेवा करने में समर्थ हो सके।

रामराज्य कालीन सुख-सम्पत्ति तथा वैभव आदि का वर्णन लेखनी और वाणी का विषय नहीं। उस कल्पना को आज भले ही हम स्वप्न वत् मानें किन्तु यदि अपने देश का वास्तविक सुधार करने की इच्छा है तो हमें उन आचरणों को अपने जीवन में उतारना पड़ेगा जो उस समय के नर-नारियों द्वारा आचरित होते थे। देश-काल तथा परिस्थिति के अनुसार यदि पूर्ववत सफलता न भी मिले तो भी राम राज्य की वह झलक, जिसके चिन्तन मात्र से हम आनन्दमग्न हो उठते हैं वह तो मिल ही जायगी। बहुधा कुछ व्यक्ति यह कहा करते हैं कि अकेला चना

भाड़ को किस प्रकार फोड़ सकता है किन्तु ऐसा विचार मानव को उन्नति की ओर न ले जाकर अवनति की ओर ले जाता है। अतएव राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि अपने को राष्ट्र की एक इकाई मान कर वह स्वयं ही अपने सुधार में लग जावे। और अपना एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट न करे। जो भी कार्य करे उसमें देश हित की भावना अवश्य होनी चाहिये। किन्तु ऐसी भावनाओं की प्राप्ति सत्संग के द्वारा ही संभव है।

सहस्रों वर्षों की परतन्त्रता-पाश से मुक्त होने के पश्चात् प्रमाद और आलस्य को सदा सर्वदा के लिए देश से निकालने की शक्ति आध्यात्मिक शिक्षा में अन्तर्हित है। अतएव भौतिक उन्नति के साथ-साथ देश के भाग्य विधाता यदि इस ओर किञ्चित ध्यान दें तो निश्चय ही देश वर्तमान शोचनीय अवस्था से ऊपर उठकर कर्त्तव्य-पथ की ओर अग्रसर हो सकता है। नैतिक पतन, अनाचार को रोकने के लिये अब तक जो कानून व दण्ड विधान बनाये गये वह सहायक सिद्ध न हो सके अतएव इस बात की आवश्यकता है कि मनुष्यों के हृदय परिवर्तन करने की योजना बनायी जाय। विश्ववन्द्य महात्मा गाँधी ने इस तथ्य को भली भाँति समझा था। उसी मार्ग का आश्रय लेने से सम्भव है कि हम सफलता की ओर जाने का निश्चय करलें। व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक नर-नारी अपने-अपने घर में सत्संग और स्वाध्याय के सहारे जीवन निर्माण की योजना बनाले ब्राह्ममुहूर्त में उठ कर माता-पिता आदि गुरुजनों को प्रणाम कर, नित्य कर्म तथा सत्संग करे। अन्य सांसारिक-झंझटों में एक यह भी झंझट लगा लेना चाहिये कि निश्चित समय पर शय्या परित्याग कर सम्मिलित प्रार्थना तथा दैनिक सत्संग करेंगे। सत्संग के समय में अध्यात्म तथा परमार्थ-चर्चा को छोड़कर सांसारिक प्रपंच की वार्ता का सर्वथा निषेध रहे। इस प्रकार की क्रिया होने से कुछ दिनों में ही आप को अपने घर के वातावरण में आश्चर्य जनक परिवर्तन मिलेगा। भगवन्नाम ध्वनि द्वारा रोगों के सूक्ष्म कीटाणु

वैज्ञानिक सिद्धान्तानुसार नष्ट होजाते हैं। पारस्परिक द्वेष तथा कलह दूर होकर प्रेम और सद्भावना की जागृति होगी। प्राकृतिक नियमों का पालन करने से अनेक सद्गुणों का समावेश होगा। और अपने इस सुन्दर आचरण का प्रभाव अपने पड़ोसी तथा मुहल्ले के लोगों में फैलेगा। इस प्रकार अपने घर का सुधार करने के उपरान्त मुहल्ले तथा नगर के अन्य स्थानों में भी सत्संग का प्रचार करने की योजना बनानी चाहिये। किन्तु इस बात का ध्यान रखने की आवश्यकता है कि सत्संग में कभी किसी की निन्दा न की जाय। और न कभी चंदा एकत्रित करने का प्रस्ताव रक्खा जाय। श्रद्धा और भावना से जो कार्य होता है वही सर्वोत्तम है।

इस प्रकार अपने घर तथा मुहल्ले का सुधार करते हुए 'सर्व भूत हिते रता:' के सिद्धान्त को अपने सामने रखकर अधिक से अधिक आध्यात्मिक विचारों का प्रचार करने का प्रयत्न करना चाहिये। इस आध्यात्मिक प्रचार की आड़ में यदि व्यक्तिवाद, स्वार्थ साधन, साम्प्रदायिकता तथा मान की इच्छा अथवा दूसरों को नीचा दिखाकर ऊँचा उठने की कामना आदि अवगुण छिपे होंगे तो इस कार्य में सफलता कदापि नहीं मिल सकती। अतएव जनता-जनार्दन के सच्चे सेवक को इन उपरोक्त अवगुणों से सदैव बचना चाहिये। सद्गुणों के ग्रहण तथा अवगुणों के परित्याग का सर्वत्र प्रचार करने की योजना बनाकर प्राणपण से संलग्न होना चाहिये तो अवश्य सफलता मिलेगी। प्रयत्न करने पर भी यदि जन्म-जन्मान्तरों के कुसंस्कारों के वश दूसरों का सुधार न हों तो प्रचारक को किंचित हताश होने की आवश्यकता नहीं है। उसे तो सदैव यह विचारना होगा कि जनता की इस सेवा द्वारा मैं स्वयं अपने सुधार करने का अभ्यास कर रहा हूँ ऐसी दृढ़ भावना बन जाने से जो अन्तःप्रेरणा होगी उसी के द्वारा जनता-जनार्दन की वास्तविक सेवा हो सकेगी।

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम तथा उनके समस्त परिवार की प्रत्येक क्रिया में जनता की हित भावना अन्तर्हित होने के कारण राम राज्य की स्थापना हो सकी थी। अतएव इस सुन्दर कल्पना को चरितार्थ करने के लिये समस्त देश में कुछ ऐसे निस्पृह वीतराग महानुभावों का संगठन होने की मुख्य आवश्यकता है जो अपने सर्वस्व की बाजी लगाकर इस सुन्दर स्वप्न को चरितार्थ करने के लिये प्रयत्नशील हों। इन्हें उन अट्टाहस जीवन मुक्तों का आदर्श सामने रखकर निश्चित योजना के अनुसार लक्ष्यपूर्ति के निमित्त प्राणों की बाजी लगाने का संकल्प करना होगा। तब यह असम्भव एक दिन अवश्य ही संभव बन सकता है। क्योंकि मनुष्य के लिये कोई भी बात असम्भव नहीं रह सकती यदि वह अपने पुरुषार्थ का आश्रय ले।

राष्ट्र के भाग्य विधायक श्रेष्ठ पुरुष अध्यात्मवाद के रहस्य को समझने का प्रयत्न करें। इधर की उदासीनता के कारण उन्हें भौतिक वाद का आश्रय लेकर जनता को सुखी बनाने की भावना बढ़ती जा रही है। किन्तु यह निश्चित है कि आधुनिक समस्त सामग्रियों के भी द्वारा जनता सुखी नहीं बन सकती। चाहे विशेष प्रयत्न से भारत के प्रत्येक नागरिक के पास नवीन वैज्ञानिक उपकरणों का संग्रह कर दिया जाय, परन्तु हृदय का परिवर्तन हुए बिना सुख और शान्ति की अनुभूति कदापि नहीं हो सकती। संसार के अन्य देशों की ओर देखने से स्पष्ट विदित होता है कि उनके यहाँ आविष्कारों की होड़ सी लगी हुई है। प्रत्येक देश अपने को उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर देखने की लालसा में इतना उन्मत्त हो रहा है कि अपने स्वार्थ के आगे दूसरों के स्वार्थ की हत्या करने में उसे किंचितमात्र संकोच नहीं होता। यही कारण है कि दूसरों के सर्वनाश के निमित्त अणुबम तथा परमाणुबम बनते चले जारहे हैं। यदि उनके हृदयों में ऐसी भावना होती कि दूसरों के हित में ही अपना हित अन्तर्हित है तो विध्वंसक

आविष्कारों के स्थान पर शान्ति और अभय प्रदान करने वाले आविष्कार होते। किन्तु ऐसा होना तभी सम्भव था कि जब उनके हृदय में आध्यात्मिकता की पुनीत भावनाओं का समावेश होता।

रामराज्य का आदर्श साम्यवाद

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम के शासन काल में चारो आश्रम सुचारु रूप से व्यवस्थित थे। द्विजाति मात्र के बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रविष्ट होकर, निस्पृही और मनीषी वानप्रस्थियों द्वारा शिक्षा प्राप्त करते थे। यह आश्रम नगर से दूर सरिताओं के सुरम्य तट पर मनोरम प्राकृतिक दृश्यों के स्थानों पर बनाये जाते थे। इन आश्रमों में पहुँचकर स्वाभाविक ही एक प्रकार का शान्ति दायक आकर्षण दर्शक को आकर्षित करता था। वानप्रस्थी महापुरुषों के संरक्षण में बालक उनका हार्दिक प्यार पाकर अपने माता को भूल दत्तचित्त विद्याध्ययन करते थे। राजा एवं रंक दोनों के बालक समान वेष-भूषा तथा रहन सहन से त्यागमय जीवन व्यतीत करते हुये निश्चित अवधि तक ब्रह्मचर्याश्रमों के नियमों को पालन करते थे। इस प्रकार जीवन-निर्माण की नींव रूपी इस अवधि में वेष-भूषा, रहन-सहन तथा त्याग की मनोवृत्ति से स्वाभाविक ही सब बातों में समता का भाव भर जाता था अर्थात् व्यावहारिक शिक्षा का श्री गणेश क्रिया रूप में परिणत करके जब वे बालक शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् गुरू की आज्ञानुसार गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होते थे तो अपने स्वभावानुसार गृहस्थाश्रम के धर्मों का पालन करते हुए जीवन यापन करते थे। गुरुकुल में उन्हें गृहस्थाश्रम के धर्मों की शिक्षा मिलती थी उसके अनुसार प्रत्येक गृहस्थ व्यावहारिक साम्यवाद को सामने रखकर आचरण करता था उन्हें बताया जाता था कि गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर तुम्हें वस्तु

संचय का अधिकार है। किन्तु वे सभी वस्तुएँ केवल तुम्हारी अथवा कुटुम्बी जनों की भोग्य न बनकर समस्त राष्ट्र की सम्पत्ति है। तुम्हें संचय करने का अधिकार अवश्य है किन्तु आवश्यकता पड़ने पर तत्त्वण राष्ट्र-हित की भावना से परित्याग करने में लेश-मात्र भी संकोच नहीं होना चाहिये। उन्हें हृदयंगम कराया जाता था कि संचित भोगों को भोगते हुए "पद्म पत्रवत्" रहने का ही अधिकार है। यदि तुमने अपने पुरुषार्थ से एकत्र किए हुए ऐश्वर्य और भोगों को केवल अपना ही मान लिया अर्थात् उनमें तुम्हारी आसक्ति दृढ़ होगई तो निश्चय ही तुम्हारी वृत्तियाँ पतनोन्मुखी बनकर तुम्हें नीचे गिरा देंगी, मानव जीवन के लक्ष्य से दूर कर देंगी भोगासक्त होने के कारण भोग योनियों में ले जायेंगी। जिस प्रकार एक ततैया (बर्र) शीरे में आसक्त होने के कारण उसके समीप पहुँच कर उसका स्वाद लेती है यह तो उसका स्वाभाविक धर्म ही है। यदि वह दूर से ही पंखों को बचाती हुई शीरे का स्वाद लेती तब तो कोई हानि न थी, किन्तु वह अत्यन्त आसक्त होने के कारण पंखों को भी शीरे में डुबा देती है, और उड़ने से विवश होकर प्राणों तक से हाथ धो बैठती है। इसी प्रकार दीप-शिखा से दूर रहकर पतंगा यदि प्रकाश का आनन्द लेता, तभी तक उसकी भलाई थी, किन्तु वह आसक्ति वश उसमें कूद कर अपने शरीर को भी भस्म कर देता है।

यही बात आधुनिक भौतिकवादी संकुचित दृष्टिकोण वाले स्वार्थी जनों की है वे अपने पुरुषार्थ द्वारा संचित किए पदार्थ को केवल अपना मान कर तिजोरियों में बन्द रखते हैं और इस प्रकार देश की अन्य आवश्कताओं की पूर्ति के लिये मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। उस संचित धनराशि का सदुपयोग न होकर दुरुपयोग होता है। ऐसे स्वार्थान्ध संग्रही व्यक्तियों के कारण देश का जो अहित होता है वह अवर्णनीय है इस अहित के मूल कारण को विचार करने से विदित होता है कि भौतिकवाद अर्थात् गृहस्थाश्रम की आधार-शिला ही निर्बल है क्योंकि

उन्हें जैसी शिक्षा अथवा रहन-सहन के वातावरण में जीवन व्यतीत करना पड़ा; उसी के अनुसार उनका यह वर्ताव चल रहा है। उन्हें शिक्षा ही नहीं मिली कि यह शरीर भी राष्ट्र की सम्पत्ति है। उन्हें तो बाल्यकाल से ही विलासितामय जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी गई है।

अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें यदि दम्भ, छल, कपट का आश्रय लेना पड़ता है तो वे उसमें किसी प्रकार की हानि नहीं समझते। आसक्ति के परिणाम में दुःख तथा त्याग के परिणाम में परम शान्ति सन्निहित है इस रहस्य को वे कभी जान ही नहीं पाते। यही कारण है कि बंगाल में लाखों व्यक्ति भूख से तड़प तड़प कर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर गए, किन्तु भौतिकवादी स्वार्थी जनों के हृदयों में कोई चोट नहीं पहुँची। इसी मनोवृत्ति के परिणाम-स्वरूप सोशलिज़म और कम्युनिज़म की विचारधारा तीव्र गति से आगामी क्रान्ति के लिए प्रोत्साहन दे रही है। रामराज्य में व्यावहारिक साम्यवाद इसी कारण था कि ब्रह्मचर्याश्रम रूपी त्यागमय आधार शिला पर गृहस्थाश्रम का निर्माण होता था। तब गृहस्थाश्रम में रहते हुए तथा भोग-ऐश्वर्य का संचय करते हुए भी पूर्वाभ्यास के प्रभाव से सद्गृहस्थ भोगासक्त न बनकर त्यागमय जीवन व्यतीत करके वास्तविक शान्ति की अनुभूति करते थे।

समस्त पारिवारिक सदस्य संगृहीत वस्तुओं को परस्पर एक दूसरे की समझते थे। पिता अपने संचित ऐश्वर्य भोग पुत्र के लिए, पति पत्नी के लिये, बड़ा भाई छोटे के लिए, स्वामी सेवक के लिए समझते थे। और इसी के परिणाम से पुत्र पिता को, पत्नी पति को

छोटा भाई बड़े को, सेवक अपने स्वामी को सर्वस्व मानकर उनकी पूजा किया करते थे। इस प्रकार अनायास ही पितृ-भक्ति, पातिव्रत-धर्म भ्रातृ-वत्सलता, स्वामि-भक्ति आदि सद्‌गुणों की व्यापकता उस पुनीत काल में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती थी। पुत्र जानता था कि मेरे पूज्य पिता गृहस्थाश्रम की अवधि शीघ्र ही समाप्त कर वान प्रस्थाश्रम में प्रवेश करेंगे, इस घर को छोड़कर "वसुधैव कुटुम्बकम्" के सिद्धान्तानुसार जनता-जनार्दन की सेवा के निमित्त चले जायँगे। ऐसा विचार कर वह अपनी धर्म-पत्नी सहित पूर्ण मनोयोग से पिता की सेवा में तत्पर रहता था।

आजके इस भयानक युग में माता-पिता की सेवा का भाव तो दूर रहा, उन्हें जैसा कष्टमय जीवन वृद्धावस्था में व्यतीत करना पड़ता है, अकथनीय है। यह दशा तो अपने धर्म प्रधान भारत की है, पाश्चात्य देश तो इस दशा में इतने आगे बढ़ गये कि वे अपने वृद्ध माता-पिता को बूढ़े बैल की भाँति त्याग कर पत्नी को ले अपना संसार अलग बसाते हैं। उन वृद्ध असहाय जनो के लिए Old Mans Colony (बूढ़ों का निवास-स्थान) बनाकर अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझते हैं।

रामराज्य के शुद्ध साम्यवाद में सर्वत्र सुख और शान्ति का साम्राज्य था उसके मूल कारण में आप को गृहस्थाश्रम में रहकर भोगों को भोगते हुए त्यागमय जीवन व्यतीत करने का रहस्य छिपा मिलेगा। गृहस्थ-जीवन की समाप्ति के पश्चात् वनस्थलियों में रहकर जीवन का तृतीय भाग जनहित में व्यतीत करने से उनका अन्तःकरण पूर्णरूपेण शुद्ध हो जाता था। जिसके परिणाम से एक दिन स्वयं ही

सर्वस्व त्याग की भावना जागृत होकर अग्नितुल्य देदीप्यमान सन्यासाश्रम की प्राप्ति करा देती थी। वे वीतराग सन्यासी आत्मचिन्तन में निरत वृत्तियों का निरोध करते हुये शरीर के शेष प्रारब्ध भोगकर परम धाम की यात्रा करते थे। इन सन्यासी महापुरुषों की अहैतुकी कृपा यदा कदा राज्य संचालकों को प्राप्त होती रहती थी। उनके अनुभव और सदुपदेशों से लाभ उठा कर उस समय के राजा शासन करते थे। सारांश यह कि विवेक सहित चारों वर्णों के पुरुष अपने कर्त्तव्य पालन में तत्पर रहकर दूसरों को सुख पहुँचाने की भावना से प्रत्येक कार्य करते थे। यही कारण था कि उस समय देश में दुःख और अशान्ति का लेश मात्र भी नहीं था। पूज्यपाद गोस्वामी जी ने उस अनुकरणीय साम्यवाद का वर्णन निम्नलिखित दोहे में किया है।

वर्णाश्रम निज-निज धरम, निरत वेद पथ लोग।
चलहि सदा पावहि सुखहिं नहिं भय शोक न रोग॥

वर्णाश्रम धर्म के अनुसार उस काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार श्रेणियों में समस्त जनता विभाजित थी। अपने अपने धर्म के अनुसार ये चारों वर्ण अलग होते हुये भी वस्तुतः एक ही थे। बुद्धि प्रधान होने के कारण वेदों के पठन पाठन द्वारा ब्राह्मण समस्त जनता की सेवा करते थे। क्षत्रिय अपने बाहुबल से तीनों वर्णों की रक्षा करते थे। कृषि, गोपालन तथा वाणिज्य के द्वारा वैश्य, शूद्र शारीरिक परिश्रम द्वारा तीनों वर्णों की सेवा में कर्त्तव्य परायण रहते थे। यही सच्चा साम्यवाद था। इसी लिये ब्राह्मण को शिर, क्षत्रिय को बाहु, वैश्य को उदर, शूद्र को पैर कहा गया है। पैर में यदि काँटा लगे तो तुरन्त ही हाथ पैर की रक्षार्थ कार्यशील हो जायेंगे। मुख जैसे उदर में भोजन संचित कर समस्त अंगों का पोषण करता है, ऐसे ही उस समय के वैश्य अपने धन द्वारा सबकी सेवा में संलग्न रहते थे।

शरीर के किसी अंग प्रत्यंग पर आघात होने से समस्त शरीर को कष्ट का अनुभव होता है। ठीक इसी प्रकार समान भाव से चारों वर्णों के पुरुष एक दूसरे की सेवा में स्वयं कष्ट उठाकर अपने को भाग्यशाली मानते थे। इस समानता के मूल कारण में अभिमान रहित विवेक ही अन्तर्हित है। और इस विवेक की प्राप्ति आध्यात्मिकता द्वारा हुई थी। इन चारों में न कोई अपने को श्रेष्ठ मानता था और न अपनी अपेक्षा किसी को हीन समझता था। इस प्रकार के साम्यवाद से सम्पूर्ण राष्ट्र सुख शान्ति के महासागर में निमग्न रहता था।

उस प्राचीन आदर्श का उदाहरण आज के जन सेवी साम्यवादी भी उपस्थित करते है और यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि हमारे सिद्धान्त के अनुसार चलने से रामराज्य के जैसी सुख और शान्ति प्राप्त हो जायगी, किन्तु अपने सिद्धान्तों का निरूपण करते समय अध्यात्मवाद के प्रति उदासीनता होने के कारण परिणाम में उनके सिद्धान्त भी सुखद प्रतीत नहीं होते। त्याग का आधार न होने से उनकी योजना आगेचलकर एक ऐसे बन्धन में आबद्ध कर देती है जिसे हम वास्तविक साम्यवाद नहीं कह सकते। वस्तुतः जो क्रिया विवेक सहित की जाती हैं वह सुख का कारण बनती है। और विवेक रहित होने से वही क्रिया दुःख का कारण बन जाती है। अर्थात् सदुपयोग होने से सुख होता है, दुरुपयोग होने से दुःख होता है। प्रत्येक कार्य को कुशलता पूर्वक सम्पादित करने के लिये उस कला से अभिज्ञ होना आवश्यक है। जैसे यदि हम तैरना नहीं जानते हैं और नदी में कूद पड़ते हैं तो अवश्य ही डूब जायेंगे। यदि हमारे पास बन्दूक तलवार आदि घातक अस्त्र संगृहीत हैं और हम उनके संचालन की क्रिया से अनभिज्ञ हैं तो किसी शत्रु के सहसा आक्रमण होने पर वे शस्त्र हमारे ही घातक बनकर हमरा नाश कर देंगे। तात्पर्य यह कि भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति होने पर उन्हें भोगने की कला न सीखने

से उनमें आसक्त हो जाना अवश्यम्भावी है क्योंकि आसक्ति ही दुःख का मूल कारण है।

वर्तमान काल में भी हम मनुष्य को चार भागों में विभाजित पाते हैं। जिनके सम्बन्ध में विचार करने से अनुमान होता है कि ये चारों स्थितियाँ विकृत रूप से परिवर्तित होकर हमारे सामने आती हैं। आज से लगभग ५०-६० वर्ष पूर्व भारत के अधिकांश नागरिक निरक्षर थे अर्थात् विद्या का प्रचार न था। इसके पश्चात् पाश्चात्य शिक्षा की प्रबल आँधी से अधिकांश व्यक्ति साक्षर बनकर भौतिकवाद के पुजारी बने उन्होंने प्रथम श्रेणी के व्यक्तियों को मनहूस बताकर अपने को श्रेष्ठ समझा और नवीन आविष्कार तथा अधिक से अधिक संचय कर सुख प्राप्ति की होड़ में ही अपना कर्त्तव्य मान अपने को श्रेष्ठ समझने लगे। तीसरी श्रेणी के विभाजन में वे लोग आते हैं जो परिस्थिति वश न तो अधिक विद्याध्ययन ही कर सके और न भोग सामग्रियाँ ही संचित कर सके विवश होकर इन्हें मजदूरी आदि साधन से कठोर परिश्रम के द्वारा जीवन यापन करना पड़ा। तब इन्होंने विचार किया कि हम लोग तो कष्ट पूर्ण जीवन व्यतीत करें और ये बड़े बड़े सेठ मसनद लगाये तोंद फुलाये सुख से जीवन व्यतीत करें। इन्हें हमसे अधिक भोगों की प्राप्ति का क्या अधिकार है। अतएव सम्पत्ति का बटवारा समान रूप से होना चाहिये। जिससे सभी को समान सुख की प्राप्ति हो और कोई दुखी न रहे यही आधुनिक साम्यवाद है। तीसरी श्रेणी के इन व्यक्तियों के अतिरिक्त कुछ योरोपीय देशों में नेचरवाद का जन्म हुआ है। इस मत के अनुयायी पुरुष और स्त्री दोनों एक निर्दिष्ट स्थान में नग्न रहकर पशुवत जीवन व्यतीत करते हैं। उनका मत है कि माता के उदर से बालक जिस प्रकार जन्म लेता है वैसे ही रहने से प्रकृति माता सच्चा सुख प्रदान करेगी। चतुर्थ श्रेणी के इस आश्चर्यजनक वाद को अभी योरोपीय देशों में ही प्रसारित

होने का अवसर मिला है। इस प्रकार वर्तमान शताब्दी में मनुष्य चार प्रकार की श्रेणियों में विभाजित हुआ। प्रथम निरक्षरवाद, द्वितीय साक्षार वाद अथवा भौतिक वाद, तृतीय साम्यवाद, चतुर्थ नेचरवाद। इन चारों प्रकार के वादों में विचार करने पर विवेक हीन प्राचीन सभ्यता का विकृत रूप दृष्टिगोचर होता है। विवेक हीनता के कारण किसी को वास्तविक सुख और शान्ति की उपलब्धि नहीं हो सकती। निरक्षरवाद का जन्म ब्रह्मचर्याश्रम के अभाव के कारण हुआ। इस परिस्थिति में मनुष्य लकीर के फकीर की भाँति पशुवत जीवन व्यतीत करता था। अतएव उसे विवेक न होने के कारण शान्ति की अनुभूति न हो सकी। समय ने पलटा खाया और पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से भौतिकवाद को प्रश्रय मिला किन्तु इस शिक्षा की भित्ति विवेक हीनता पर आधारित होने के कारण स्वार्थ परता तथा संकुचित दृष्टिकोण की ओर लग गई। रूप रंग और चमक, दमक में यह शिक्षा बहुत सुन्दर लगी। नित नूतन आविष्कार भी हुए। किन्तु इन अनेक भोगों को भोगने की कला न सीखने के कारण अशान्ति का जन्म हुआ। यह प्राचीन काल के गृहस्थाश्रम का विकृत रूप कहा जा सकता है। इस विकृत रूप की प्रतिक्रिया साम्यवादी विचार धारा के रूप में तृतीय श्रेणी के व्यक्तियों में दृष्टिगोचर हुई। समान रूप से वितरण करने की यह भावना प्राचीन काल के वानप्रस्थाश्रम का विकृत रूप जान पड़ता है। किन्तु विवेक हीनता के कारण यह साम्यवाद भी वास्तविक सुख और शान्ति की ओर न ले जाकर अशान्ति की ओर ही ले जायेगा। नेचरवादी चतुर्थ श्रेणी के व्यक्ति प्राचीन काल के सन्यासाश्रम की ओर संकेत करते हैं। अतएव यह नेचरवाद सन्यासाश्रम का विकृत रूप जान पड़ता है। उस सन्यास तथा आधुनिक नेचरवाद में आकाश पाताल का अन्तर है। वह तो अन्तःकरण की शुद्धि के पश्चात् स्वाभाविक ही हो जाता था और यह भौतिकवाद की अशान्ति से ऊबकर अपने पैर फैला रहा है।

उपर्युक्त चारों प्रकार की श्रेणियों में किसी को भी वास्तविक शान्ति की अनुभूति होना असम्भव है। रामराज्य के अनुकरण आदर्शवाद का सिंहावलोकन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि वास्तव में यथार्थ साम्यवाद अर्थात् रामराज्य का पुनर्निर्माण करना है तो तदनुसार योजना के द्वारा सम्भव हो सकता है। अन्यथा इसी प्रकार बालू की दीवारें उठती तथा गिरती रहेंगी। अर्थात् अशान्ति का निराकरण न होने से मानव इसी भाँति सदैव संत्रस्त बना रहेगा। यदि वास्तविक शान्ति लाभ की इच्छा है तो रामराज्य कालीन आदर्श को सामने रखकर तथा उसके अनुसार विवेक का आश्रय लेने से सफलता मिल सकती है।

राम राज्य की अनुपम सुख शान्ति का दिग्दर्शन

राम राज्य में एक कोने से दूसरे कोने तक सर्वत्र सुख शान्ति की सुरसरित् प्रवाहित थी। कोई भी प्राणी त्रिविध तापों से संतप्त नहीं था। कविकुल चूड़ामणि पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्रीरामचरितमानस में राम राज्य का जो वर्णन किया है वह इस घोर तिमिराच्छन्न कलिकाल में भले ही कल्पना जैसा प्रतीत होता हो किन्तु यदि आज भी इस ओर प्रयत्न किया जाय तो उसकी किंचित् झलक का अनुभव हृदय में हो सकता है।

राम राज बैठे त्रैलोका। हर्षित भए गये सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥

बरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग॥

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहि काहुहि ब्यापा।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥

चारिउ चरन धर्म जग माहीं । पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं ॥
राम भगति रत नर अरु नारी । सकल परम गति के अधिकारी ॥
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा । सब सुन्दर सब विरुज शरीरा ॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना
सब निर्दम्भ धर्मरत पुनी । नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥
सब गुनग्य पंडित सब ज्ञानी । सब कृतज्ञ नहि कपट सयानी ॥

राम राज नभगेस सुनु, सचराचर जग माहिं ।
काल कर्म सुभाव गुन, कृत दुख काहुहिं नाहिं ॥

गोस्वामी जी द्वारा वर्णित महामंगलमय इस रामराज्य के इतिहास के सिंहावलोकन करने से विदित होता है कि उस पुनीत काल में आसुरी सम्पति का लेश मात्र भी अवशेष इस देश में नहीं था। समस्त नागरिक दैवी सम्पत्ति के शुभ गुणों से सम्पन्न, वेदोक्त कर्त्तव्यों का पालन करते थे।

सब उदार सब पर उपकारी । विप्र चरन सेवक नर नारी ॥
एक नारि व्रत रत सब झारी । ते मन वच क्रम पति हितकारी ॥
फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन । रहहिं एक सँग गजपंचानन ॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई । सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई ॥
कूजहिं खग मृग नाना वृन्दा। अभय चरहिं बन करहिं अनन्दा ॥
सीतल सुरभि पवन बह मन्दा। गुंजत अलि लै चलि मकरंदा ॥
लता विटप मागे मधु च्यवहीं । मन भावतो धेनु पय स्रवहीं ॥
ससि सम्पन्न सदा रह धरनी । त्रेता भइ कृत जुग कइ करनी ॥
प्रगटीं गिरिन्ह विविधि मनि खानी । जगदातमा भूप जग जानी ॥
सरिता सकल बहहिं बर बारी । सीतल अमल स्वादु सुखकारी ॥
सागर निज मर्यादा रहहीं। डारहि रत्न तटन्हि नर लहहीं ॥
सरसिज संकुल सकल तड़ागा । अति प्रसन्न दस दिसा विभागा ॥

विधु महि पूर मयूखन्हि, रवि तप जेतनहिं काज ।
माँगें बारिद देहिं जल, रामचन्द्र के राज ॥

ईर्ष्या, द्वेष, दम्भ, कपट, पाखण्ड, द्रोहादि दुर्गुणों का नितान्त अभाव था। जिसके कारण पारस्परिक प्रेम की चरम सीमा सर्वत्र दृष्टिगोचर होती थी। इसका कारण यह था कि सभी का लक्ष्य एक बन गया था। लक्ष्य के एक होने से हृदय भी एक बनाए जा सकते हैं। समस्त नर और नारी पत्नी व्रत तथा पातिव्रत धर्म के रहस्य को समझ कर पर स्त्री को माता बहिन और कन्या के समान तथा परपुरुष को पिता, भ्राता और पुत्र के समान देखते थे क्योंकि उन्होंने इस रहस्य को भली भाँति समझ लिया था कि इस मानव देह द्वारा जो भी कर्म आचरित होंगे उन्हीं के अनुसार हमारा परलोक बनेगा वे जानते थे कि यह मनुष्य योनि कर्म क्षेत्र है। इसमें हम कर्म रूपी जो बीज बोयेंगे उसी के अनुरूप भविष्य में हम फल पायेंगे। सभी व्यक्ति प्राकृतिक नियमों का पूर्ण रूपेण पालन करते थे। इसी कारण किसी को वैद्य अथवा औषधि की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उस समय के वैद्य रोग निवारण के निमित नहीं, वरन् आयु को बढ़ाने के लिये औषधि देते थे। प्रत्येक घर में ब्रह्ममुहूर्त से शयन पर्यन्त नियमित रूप से कार्य बटा हुआ था। प्रातःकाल वेदध्वनि से आकाश मण्डल गूंज उठता, यज्ञ के धूम्र से सुवासित वायुमण्डल मन को पवित्र बनाता था। देवताओं का यथाविधि पूजन होने से वर्षा उचित समय पर होती थी। उस समय मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी तथा जड़ पदार्थ भी प्रकृति के मंगलमय वरदान से सम्पन्न थे। शिक्षा का ऐसा सुप्रबन्ध था कि कोई भी स्त्री पुरुष निरक्षर न थे। कर्त्तव्य पालन के कष्ट को सभी सहने में सौभाग्य समझते थे। सभी की भावनायें उदारता से परिपूर्ण थी। परहित में सर्वस्व न्योछावर करने के लिये सदैव तत्पर रहते थे यह बात सभी के हृदयंगम हो गई थी कि:—

परहित सरिस धर्म नहि भाई। पर पीड़ा सम नहि अधमाई॥

इस प्रकार समस्त देश में एक कोने से दूसरे कोने तक सभी कर्त्तव्यपरायण बनकर वास्तविक शान्ति की अनुभूति करते थे। सद्गुणों की व्यापकता होने से किसी को दण्ड देने की आवश्यकता नहीं रह गई थी। उस स्मरणीय युग में सभी मनुष्य अपनी भूल पर मन को दण्ड देते थे। सभी के हृदयों का परिवर्तन इस रूप में हो चुका था कि कोई भूल ही नहीं होती थी। यदि असावधानी से हो भी जाती तो उसका स्वयं सुधार कर लेते थे।

मनुष्य यदि स्वयं ही अपना सुधार करे, तभी हो सकता है अन्यथा ब्रह्मा के समान गुरु पाकर भी सुधार होना असम्भव है। उस स्वर्णिम युग का वर्णन गोस्वामी जी ने एक दोहे में ही कर दिया है—

दण्ड यतिन्ह कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।
जीतहि मनहि सुनिय अस, रामचन्द्र के राज॥

इस अनुकरणीय वातावरण को बनाने में मन का सुधार ही मुख्य प्रतीत होता है। मन के सुधर जाने से ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों का सुधार स्वयं ही हो जाता है परन्तु मन का सुधार परिमार्जित बुद्धि के द्वारा ही सम्भव है।